

अनुप्रेक्षा प्रवचन

पंचम भाग

सति अणताणता तीसु वि कालेसु सव्व दव्वाणि ।

सव्वं पि अणेयतं तत्तो भणिदं जिणेदेहिं ॥ २२४ ॥

पदार्थोंके अनेकान्तात्मत्वकी सूचना—लोकभावनामें सभी द्रव्योंका वर्णन करनेके पश्चात् अब यह बतला रहे हैं कि प्रत्येक पदार्थ अनेकान्तात्मक है, सभी पदार्थ अनन्तानन्त हैं और अनन्तानन्तकालमें रहा करते हैं। तब एक एक पदार्थकी अनन्त पर्यायें हो गईं और प्रत्येक पर्यायके हिसाबसे उनमें प्रतिदृष्टिसे अनन्तात्मक अनेकान्त धर्म बनता है। इस तरह समस्त द्रव्य अनेक धर्मस्वरूप हैं ऐसा वीतराग जिनेन्द्रदेवके सिद्धान्तमें प्ररूपित है। वस्तु एक एक होकर भी प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने स्वरूपमें अनेकान्तरूप है। जैसे स्थूलरूपसे देखते हैं कि पदार्थ नित्य भी है, अनित्य भी है। जो घट पट आदिक पदार्थ नजर आते हैं घड़ा हो तो उसका मिटकर खपरियाँ बनीं, उसका चूरा किया तो जैसे उसमें अनेक पर्यायें नजर आती हैं, जो मिट्टी स्वरूप है वह वही है याने मूल वस्तु जिसमें परिणत हुआ करती है वह मूलवस्तु वही है जिसे हम आप सभी अपने-अपनेमें विचारें कि हम जो मूल वस्तु है आत्मा, वह जन्मसे लेकर अब तक वही है, पर अवस्थायें कितनी गुजर गयीं? यह तो एक भवकी बात है पर भव-भवमें न जाने कितने जन्ममरण किए। जीव तो वही है पर उसकी अवस्थायें बदलती हुई दिखती हैं। जब अवस्थाओंकी दृष्टिसे देखते हैं तो अनेक रूप है और एक मूल द्रव्यकी दृष्टिसे देखते हैं तो वह एक रूप है और नित्य है। पर्यायदृष्टिसे अनित्य है। नित्यानित्यात्मक पदार्थको न माननेपर वस्तुकी व्यवस्था नहीं बनती।

पदार्थको अनेकान्तात्मक न माननेपर वस्तुत्वकी असिद्धि—जैसे कोई दार्शनिक कहता है कि एक ब्रह्म है अपरिणामी है, सर्वव्यापक है और सर्व ही क्या है? वही एक ही है। उसकी ये सब पर्यायें हैं। अब देखिये प्रतीति गवाह नहीं देती। प्रत्यक्षसे इसका विरोध है, पदार्थ यहाँ नाना नजर आते हैं और एक पदार्थ और दूसरे पदार्थके बीच आकाशका अन्तर भी समझमें आता है फिर वह एक कहाँ रहा? प्रत्येक सत्में उसका अपना स्वरूप है। प्रतिक्षण उसकी कोई न कोई मुद्रा है। पर उसे अपरिणामी कहा जा रहा। जब नहीं बनती और क्षण-क्षणमें नवीन-नवीन ही पदार्थ होता है ऐसा माना जाये तब भी व्यवस्था नहीं बनती। हम आपको हित क्यों करना चाहिए? इसी कारण कि हम आप नित्यानित्यात्मक हैं। अतः हितकी आवश्यकता है। यदि यह मान लिया जाये कि मैं जो जीव हूँ वह सदा अपरिणामी नित्य हूँ तो जो जैसा है यह मैं वैसा ही रहूँगा सदा, कुछ भी परिवर्तन हो ही नहीं सकता। फिर कल्याणकी आवश्यकता ही क्या है? और यदि यह माना जाये कि मैं कोई एक नहीं हूँ। जो ज्ञान होता है प्रतिक्षण बस एक एक ज्ञान वही पूरा आत्मा है, मैं आत्मा कुछ नहीं हूँ, तो ज्ञान क्षण होता है, एक समय होकर मिट जाता है, होते रहते हैं, मिट जाते हैं। मैं तो आत्मा ही नहीं हूँ। है जो कोई जीव वह एक समय वाला है, एक समय रहता और मिट जाता है। उनका भी क्या नुकसान है? किसलिए हित किया जाये और एक जब मैं कुछ नहीं हूँ तो किसलिए हित किया जाये? तो मानना होगा कि हम नित्य और अनित्य स्वरूप हैं तभी हमें धर्मकी आवश्यकता है, संसारसंकटोंसे छूटनेका उपाय बनानेकी आवश्यकता है।

वस्तुको अनेकान्तात्मक न माननेपर अर्थक्रियाकारित्वकी असिद्धि—यदि अनेकात्मक वस्तु स्वीकार न की जाये तो उससे कोई काम नहीं बनता; जैसे उदाहरण लीजिये गाय का। तो कोई लोग कहते हैं कि गोत्व एक ही स्वरूप है, सर्वव्यापक है, सामान्य है, विशेषसे रहित है, तो भला ऐसे सामान्य गोत्वसे क्या काम बनेगा? बैलपर बोझ ढोना, गायका दूध दुहना, ये सब बातें देखी जा रही हैं, पर एक गोत्व सामान्य माना जाये व्यक्तिसे निराला तो उस सामान्यसे कोई काम न चलेगा और सामान्यरहित विशेष माना जाये, है नहीं ऐसा, पर कोई आग्रह करे तो सामान्यरहित विशेष अवस्तु है, उससे भी काम क्या बनेगा? तो जितने भी पदार्थ हैं वे सब सामान्य विशेषात्मक हैं, नित्यानित्यात्मक हैं, एक वस्तुमें बिना विरोधके अनेक धर्म ठहर सकते हैं। जैसे एक पुरुषका परिचय दिया जाता है तो कहते हैं कि यह पुत्र भी है, पिता भी है, मामा भी है, भांजा भी है तो वहाँ दृष्टियाँ अलग-अलग हैं। अमुककी अपेक्षा पिता है, अमुककी अपेक्षा पुत्र है, अमुककी अपेक्षा मामा है इत्यादि, पर उसमें ये सभी धर्म हैं ना, तभी तो मामा, भांजा, पिता, पुत्रादिकका व्यवहार उसके प्रति किया जाता है। तो जो नाना प्राणियोंके प्रति नाना प्रकारके व्यवहार चलते चले जा रहे हैं। उससे सिद्ध है कि इसमें धर्म भी नाना हैं। तो एक वस्तुमें अनेक धर्म होते हैं उससे उसकी सत्ता सिद्धकी जाती है।

पदार्थके यथार्थ परिचयका प्रयोजन—पदार्थका यथार्थ परिचय किसलिए करना होता है कि मोह मिट जाये। मोहसे यह जगत परेशान है, और मोह मिटानेके लिए नाना उपाय भी यह रचता है। दुःख मेटनेके लिए यह जीव उपाय अनेक प्रकारके रचता है पर उसका दुःख मिट नहीं सकता, क्योंकि मोह है। जब पदार्थ बिल्कुल भिन्न है। किसीका किसीमें कुछ लगाव नहीं है। कल्पनासे किसीका लगाव बना करता है। जब एक वस्तुका दूसरी वस्तुके साथ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका सम्बन्ध नहीं। प्रत्येक पदार्थ अपनेमें अपनी पर्यायोंको करते हुए चले जाते हैं और अपनेही स्वरूपसे वे एक हैं, पर्याय अपेक्षा अनेक हैं, नित्य हैं, अनित्य हैं, सब कुछ बात अपनेमें ही जब घटित है तो दूसरेसे कोई सम्बन्ध लेनदेन न रहा और सम्बन्ध न होने पर भी जो परको अपनाया जा रहा कि यह मेरा है, बस यही भाव दुःखका कारण बन जाता है। अब वे परपदार्थ किस तरहसे परिणमें जिसको मान लिया कि ये मेरे पुत्र हैं, अब वे इच्छाके विरुद्ध परिणमते हैं तो यह दुःखी होता है। क्यों दुःखी होता? इसलिए कि उसे अपना मान रखा है। और भी तो बहुतसे प्राणी हैं, वे भी तो कितना विपरीत चल रहे हैं पर उनके प्रति तो दुःख नहीं होता। वहाँ दुःख इसलिए नहीं होता कि यह मान्यता नहीं है कि ये मेरे हैं। परवस्तुओंके प्रति जो यह भाव होता कि ये मेरे हैं, बस यही दुःखका कारण हो रहा है। कहीं उन पुत्रादिककी प्रवृत्तियोंसे दुःख नहीं हो रहा। जिनको अपना दुःख मेटना है वे अन्दरका उस तरहका भाव समाप्त करें जो कि दुःखका कारण बन रहा है। बाह्य पदार्थोंमें सुधार बिगाड़ कर करके कोई आरामका समय नहीं प्राप्त कर सकता।

अपनेमें ही सुधार किये जानेसे सुधारकी शक्यता—अपने आपमें ही विचार करके ममता त्याग कर ही अपनेमें शान्ति पा सकते हैं। और, किया भी यही जा सकता है। जैसे एक पहाड़पर दो पुरुषोंको घूमना था। तो एक पुरुष यह विचार करता है कि मैं इस सारे पहाड़पर चमड़ा बिछा दूँ तो अच्छी तरहसे घूम फिर सकूँगा, फिर काँटे न लगेंगे, और एक पुरुष यह विचार करता है कि मैं अपने ही पैरोंमें मजबूत जूते पहिन लूँ फिर पर्वतपर अच्छी तरह घूमूँगा। तो आप बताओ कि पर्वतपर घूमनेके लिए कौन समर्थ हो सकेगा? सफल तो वही हो सकेगा जो जूते पहिनकर घूमना सोच रहा है। सारे पर्वतपर चमड़ा बिछाकर कोई घूमना चाहे तो वह बात मुश्किल है। तो ऐसे ही समझिये कोई पुरुष यह विचार करते हैं कि हमारा परिवार ऐसा हो जाये, इतना धन हो जाये, ऐसी

स्थिति हो जाये, ऐसी इज्जत हो जाये तो हम भली प्रकार शान्त हो सकेंगे और ऐसा करनेका वह यत्न भी करता है। और, एक पुरुष यह सोचता है कि यह मैं स्वयं आनन्दस्वरूप हूँ, आत्माका और स्वरूप क्या है, ज्ञान और आनन्द। तो ज्ञान और आनन्द स्वरूप यह मैं खुद हूँ, हमको अन्य करना ही क्या है? केवल जो मिथ्या विकल्पको हटाना है। मान लो कि न मानें हम किसीको अपना तो क्या मुझ आत्मामें कोई आफत आती है? और परको अगर अपना मानते हैं तो उसमें आफत है, यह बात स्पष्ट सिद्ध है। तो जो व्यर्थका मोह है, परको अपनानेका भीतरमें जो निर्णय है वह संकल्प दूर हो तो इसको शान्ति प्राप्त हो। और बाहरी चीजोंमें सुधार बिगाड़ बनाकर चाहें कि मैं सुखी होऊँ तो यह हो नहीं सकता, क्योंकि बाहरी पदार्थोंमें सुधारका यत्न किया दो जगह, तो चार जगह बिगाड़ दिखने लगा, अब उनकी संभाल करे। और जब उन परपदार्थोंकी संभालका उपयोग किया जाता है तो वह तो उलझन है। वहाँ शान्ति प्राप्त करनेका अवसर नहीं मिल सकता। बाहरी पदार्थोंके सुधार-बिगाड़का यत्न करने पर इस जीवको शान्तिका मार्ग नहीं मिल सकता। वह यत्न करना है अपनेमें ही, और वह है भेदविज्ञान। जैसा है वैसा परिज्ञान करना यह ही शान्तिका उपाय है। तो यही बात समझी जा रही है अनेकात्मक वस्तुके ज्ञानमें।

सप्तभंगीपद्धतिमें सर्वपदार्थोंकी अनेकान्तात्मकता प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपसे है और पररूपसे नहीं है। दिख रहा है स्पष्ट। यह घड़ी अपने स्वरूपसे है चौकी आदिकके स्वरूपसे नहीं है, चौकी पुस्तक आदिकसे तो यह घड़ी बिल्कुल ही अलग दिख रही है। तो अब इस घड़ीमें अपने स्वरूपका अस्तित्व है और परस्वरूपका नास्तित्व है। तो यह घड़ी अपने स्वरूपसे है एक धर्म विदित किया। यह घड़ी पररूपसे नहीं है, यह दूसरी बात विदित की। अब इन दोनों बातोंको कोई अलग-अलग लगाये किसी पदार्थमें तो माने कि स्वरूपसे है, वहाँ दूसरी बात न माने और किसी पदार्थमें माने कि यह पररूपसे नहीं है। उसमें अन्य अस्तित्व न माने तो भी वस्तुका स्वरूप नहीं बनता। एक ही पदार्थमें अस्तित्व और नास्तित्व है यह बात समझी जायेगी क्रमशः अतएव तीसरा भंग बनता है वस्तु स्यात् अस्ति स्यात् नास्ति, लेकिन इन ही दोनों बातोंको कोई एक साथ बताना चाहे तो कोई शब्द नहीं है। सब शब्द क्रमसे अपना व्यवहार करते हैं। तो सब धर्मोंको एक साथ नहीं कहा जा सकता। इसलिए कहना होगा कि वस्तु स्यात् अवक्तव्य है, चारों धर्म हमको तो स्पष्ट समझमें आ रहे हैं। अब जब ये चार धर्म हो गए तो अन्य तीन संयोगी भंग और सिद्ध होते हैं। यह वस्तु है फिर भी अवक्तव्य है। वस्तु पररूपसे नहीं है फिर भी उतने ही स्वरूप नहीं, अवक्तव्य है। वस्तु अपने स्वरूपसे हैं, पररूपसे नहीं है इतना समझ लेनेपर भी वह अवक्तव्य विदित होती है। तो ऐस पदार्थमें ७ प्रकारके भंग विदित होते हैं।

स्याद्वादशासनमें वस्तुके स्वातन्त्र्यकी घोषणा सप्तभंगीकी विवेचनाका रहस्य यह समझें कि वस्तु अपने स्वरूपमें अनेक धर्मोंको लेकर स्वयं स्वतंत्र है। प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है, क्योंकि सत् है। किसीकी सत्ता किसी दूसरेकी दयापर नहीं मिली। जैसे यहाँ कोई असहाय, निर्बल लोग सोचने लगते हैं कि मेरी सत्ता तो इनके आधीन है, अगर ये लोग खुश रहेंगे तो मेरी सत्ता कायम रहेगी। अगर ये नाराज हो जायेंगे तो मेरी सत्ता कहीं नहीं है। तो ऐसा कहीं नहीं है। किसी पुरुषकी सत्ता किसी दूसरेसे उधार माँगी हुई नहीं है। स्वयं अपने स्वरूपसे सत् है। जैसे मानो, राजाने किसी अपराधीको फाँसीकी सजा दे दी तो क्या राजाने उसका विनाश कर दिया? विनाश नहीं किया। जीव जीव है, वह जीव जीवमें ही रहेगा, शरीर शरीर है, अणु उन पुद्गलोंमें ही रहते हैं। वहाँ न एक अणुका विनाश हुआ, न उस जीवका विनाश हुआ। उस स्थितिमें एक ऐसी परिणति हो गयी जीवकी और पुद्गलकी कि पुद्गल तो सूना पड़ा है और जीव यहाँसे भाग गया है, पर सत्वकी दृष्टिसे देखा तो किसीके

सत्वको किसीने नाश नहीं कर पाया। क्योंकि प्रत्येक पदार्थ हैं, स्वतंत्र हैं, अपने ही स्वरूपसे हैं, किसीकी कृपासे नहीं है। तो यों वस्तु अनेकात्मक है और अपनी स्वतंत्र सत्तासे अपना अस्तित्व रखने वाले हैं। अब वस्तुमें अनेक बातें प्रकट नजर आती हैं। मैं जीव हूँ। सब पर्यायोंमें वही रहता है। मेरी कलकी पर्याय आज नहीं है, आजकी पर्याय कल न रहेगी। जब पर्यायको देखते हैं तो हम बिल्कुल भिन्न-भिन्न नजर आते हैं। और, जब द्रव्यदृष्टिसे देखते हैं तो सब जगह वही हम एक अभिन्न हैं। इसी तरह जब हम अपनी दशाओंको देखते हैं तो हम अनित्य विदित होते हैं और स्वरूपको देखते हैं। तो हम नित्य विदित होते हैं। ऐसा यह मैं अपने आपमें सारे वैभवको लिए हुए यह अनेकान्तमय मैं स्वयं स्वतंत्र सत् हूँ। समग्र वस्तु अनेकान्तात्मक है यदि वस्तु अनेकान्तरूप न हो तो वह किसी भी कार्यको नहीं कर सकती।

जं वत्थु अणेयंतं तं चिय कज्जं करेदि णियमेण।

बहु-धम्म-जुदं अत्थं कज्ज-करं दीसदे लोए ॥ २२५ ॥

अनेकान्तस्वरूप वस्तुमें अर्थक्रियाकारित्व वस्तु अनेकान्तस्वरूप है। तभी वह नियमसे कार्य करती है। जो बहुत धर्मोयुक्त है वही पदार्थ क्रिया कर सकता है। अब यहीं देख लो-दो चीजें हैं, मानो एक खानेकी वस्तु और एक न खा सकनेकी वस्तु। एक कंकड़ पड़ा है और एक बूँदी पड़ी है। अब बूँदी अपने स्वरूपसे है और कंकड़ आदिक परस्वरूपसे नहीं है यह बात वहाँ सिद्ध है कि नहीं? यदि ऐसा नहीं मानते तो इसका अर्थ है कि वह बूँदी जैसे अपने बूँदोपनका काम करती है, खानेके काम आती है इसी तरह कंकड़का भी काम कर बैठे या कंकड़ बूँदीका काम कर बैठे। तो इसमें जो अपने-अपने जुदे-जुदे काम होते दिख रहे हैं यह बात सिद्ध करती है कि वस्तु अपने स्वरूपसे है और दूसरेके स्वरूपसे नहीं है। यदि यह व्यवथा न हो तो जगत शून्य हो जायेगा। हम अपने स्वरूपसे भी होंगे। फिर हम रहे क्या? कोई बात सिद्ध नहीं हो सकती। तो जब वस्तु अनेकान्तस्वरूप है, अपने स्वरूपसे ही है, परस्वरूपसे नहीं है तभी उससे कार्य बनता है। सभी बातें एक पदार्थमें घटित करते जाइये, यह पदार्थ अपने रूपसे है पररूपसे नहीं। यह पदार्थ सदा रहने वाला है और सदा रहता नहीं, यह पदार्थ अपनी पर्यायमें एकमेक हैपर वे पर्यायों परस्परमें एकमेक नहीं हैं आदिक अनेक स्वभावोंसे सम्पन्न पदार्थ ही अर्थक्रिया कर सकता है।

प्रसिद्ध लौकिक उदाहरणोंसे अनेकान्तस्वरूपका प्रकाश पदार्थ अनेकान्तस्वरूप है, इस विषयमें मुख्य दो उदाहरण प्रसिद्धसे ले लीजिये। एक तो यह प्रसिद्ध है कि एक ही मनुष्य पिता, पुत्र, मामा, भांजा, पति, भाई आदिक सब कुछ बन गया, तो वह पुत्रकी अपेक्षासे पिता कहा जाता है, पिताकी अपेक्षासे वह पुत्र कहा जाता है, भार्याकी अपेक्षासे पति कहा जाता है और बहिनकी अपेक्षासे भाई कहा जाता है। अनिष्टकी अपेक्षासे किसीका शत्रु कहा जाता है, किसी इष्टकी अपेक्षासे मित्र कहा जाता है, तो पुरुष तो वही एक है और उसमें धर्म नाना विदित हो गए। दूसरा उदाहरण जो प्रसिद्ध है वह यह है कि कोई चार अंधे पुरुष कहीं जा रहे थे, वे जन्मसे अन्धे थे। तो रास्तेमें एक हाथी मिला, वे हाथीका स्वरूप समझने लगे। मान लो हाथी बैठा हुआ था तो वे अंधे छूने लगे। तो एकके हाथमें सूंड आयी तो वह कहता है कि हाथी मूसल जैसा होता है, दूसरेके हाथमें पेट आया तो वह कहता है कि हाथी ढोल जैसा होता है, तीसरेके हाथमें पैर आये तो वह कहता है कि हाथी खम्भा जैसा होता है, और चौथेके हाथमें कान आये तो वह कहता है कि हाथी सूप जैसा होता है, अब वे चारों अपनी-अपनी बात बोल रहे थे और परस्परमें झगड़ रहे थे। इतनेमें कोई एक सूझता व्यक्ति वहाँसे निकला तो उसने उन चारोंकी

बातको सुनकर समझ लिया कि वे क्यों लड़ रहे थे। अब वह उन्हें समझाने लगा भाई तुम लोग आपसमें क्यों लड़ते हो? तुम सभी लोग अपनी बात ठीक कह रहे हो। हाथी सूँडकी दृष्टिसे मूसल जैसा होता है, पेटकी दृष्टिसे ढोल जैसा, पैरोंकी दृष्टिसे खम्भा जैसा तथा कानोंकी दृष्टिसे सूप जैसा होता है। उसकी बातको सुनकर उनका पारस्परिक विवाद मिट गया। ऐसे ही आजकल जितने भी दर्शनोंकी उत्पत्ति हुई है वह सब इन्हीं धर्मोंके विवादपर हुई है। कोई कहता है कि जीव नित्य है, अपरिणामी है, उसमें कुछ भी परिवर्तन नहीं होता, परिणामन नहीं होता, तो कोई यो कह बैठे कि जीव ही एक कुछ नहीं है। जो एक-एक परिणामन कहा जा रहा है वही मात्र एक-एक जीव है। लो भिन्न-भिन्न दर्शन बन गए,पर कोई समझदार अनेकान्तकी जिसकी बुद्धि स्पष्ट हुई है वह समझता है कि भाई एकान्त हठ क्यों कर रहे हो? एक दूसरेकी बात समझ लो। यह जीव नित्य भी है, क्योंकि इसकी पर्यायें बनती हैं। बिना पर्यायोंके कोई द्रव्य नहीं ठहर सकता। तो उन पर्यायोंकी दृष्टिसे जीव अनित्य है। तो दूसरोंको समझाया जाता कि क्यों एकान्त कर रहे हों, जीव तो सदा अकेला रहने वाला है। हम जिन्हें जीव मानकर रह रहे हैं वे पर्यायें हैं, वे सब विनाशीक हैं और एक-एक पर्याय है। तो द्रव्यदृष्टि और पर्यायदृष्टि दोनोंका समन्वय करके जब समझाया जाता है तो दोनोंका विवाद समाप्त हो जाता है तो वस्तु जब अनेकान्तस्वरूप है, नित्य भी है, अनित्य भी है तब तो उससे काम बनेगा। केवल नित्य हो वह भी कुछ काम करनेमें समर्थ नहीं और मात्र अनित्य हो, क्षण-क्षणमें मिटने वाली हो उससे भी कुछ काम नहीं बनता। वह नित्यानित्यात्मक है।

स्वपदार्थके नित्यानित्यात्मकत्वके परिचयकी प्रयोजकता—हमको चाहिए कि हम ऐसा प्रयत्न करें कि जिससे सांसारिक अवस्थाओंकी प्रवृत्ति तो मिट जाये और शुद्ध परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति हो। यह बात बन सकेगी। अपने आपमें जो ध्रुव परमात्मस्वरूप चैतन्यस्वरूप अनादि अनन्त अन्तःविराजमान है, जिसको हम प्रज्ञाके बलसे देख सकते हैं उसकी उपासना करें। उसकी उपासनाके प्रसादसे सारे विकल्प टलेंगे और मोह रागद्वेष हटेंगे, अपने ज्ञानस्वभावमें अपना उपयोग स्थिर होगा तो इसके प्रतापसे भव-भवसे संचित कर्म कटेंगे, जन्म-मरण मिटेगा और संसारके संकटोंसे सदाके लिए छुटकारा मिल जाएगा। यदि यह काम न कर सके तो समझ लो अनादिसे अनन्तकाल तक वह एक ही दुःख है और अपनी करनीके अनुसार हमारी नाना तरहकी पर्यायें बनती रहती हैं, उनमें जो अज्ञानभरी पर्यायें हैं वे तो हमारी बरबादी करने वाली हैं और जो ज्ञानमय पर्यायें हैं, अपने स्वरूपको समझनेमें रहने वाला परिणामन है वह हमारा भला कर सकता है। अतः प्रत्येक समय अनेक उपायोंसे हम आत्मतत्त्वका ज्ञान करें, आत्मस्वरूप समझें और उस समयज्ञानमें ही प्रसन्न रहा करें।

एयंतं पुणु दव्वं कज्जं ण रक्केदि लेस-मेत्तं पि।

जं पुणु ण करदि कज्जं तं वुच्चदि केरिसं दव्वं ॥ २२६ ॥

किसीको एकान्तमात्र माननेपर कार्यकारिताका अभाव होनेसे उसके ही अभावका प्रसंग—यहाँ यह बताया जा रहा है कि पदार्थ अनेक धर्मात्मक हैं। किसी भी पदार्थको लो, वह एक भी है, अनेक भी है, नित्य भी है, अनित्य भी है, अपेक्षासे उस पदार्थमें अनेक धर्मकी सिद्ध होती है। जैसे जीव है वह सदा रहता है उसका कभी नाश नहीं होता, इस कारण वह नित्य है। पदार्थ उसे कहते हैं जिसका अस्तित्व हो, जो है वह पदार्थ है। तो जीव भी है वह भी पदार्थ है, तो जीव पदार्थ कभी नष्ट नहीं होता, इस कारण नित्य है, किन्तु जीवमें प्रतिसमय नई-नई अवस्थायें बनती हैं। जैसे ऊपरी पर्याय तो नर, नारक, तिर्यञ्च मनुष्य आदिक अवस्थायें हैं और भीतरमें क्रोध, मान, माया, लोभादिक दशायें हैं तो इन दशाओंकी दृष्टिसे जीवको अनित्य कहा जाता है अर्थात् जो दशा अब है वह

अगले समय नहीं रहती, दशायें बदलती रहती हैं, क्योंकि पदार्थ परिणामनशील होते हैं, जो कुछ भी है वह किसी न किसी अवस्थाको धारण करता रहता है। तो अवस्थाओंकी दृष्टिसे अनित्य है जीव और अपने स्वभावकी दृष्टिसे नित्य है जीव। किसीको एकान्तरूप माना जाये, अनेकान्तात्मक न माना जाये तो पदार्थकी सिद्धि नहीं हो सकती। वह कुछ काम ही न कर सकेगा। पदार्थ है तो उससे कोई न कोई काम होता है। जिसे कहते हैं अर्थक्रिया। जैसे जीव वह जानता है, किसी जगह रमता है, कुछ विश्वास रमता है, इच्छायें करता है, शान्त होता है, कुछ न कुछ इसमें काम होते ही तो हैं। जो भी पदार्थ है उसमें कुछ न कुछ काम होगा ही होगा। यदि वस्तुको अनेकान्त न मानेंगे, एकान्त स्वीकार करेंगे जैसे कि जीव तो नित्य ही है, अनित्य किसी भी दृष्टिसे कोई न माने या अनित्य ही है, किसी भी दृष्टिसे नित्य न माने कोई तो वहाँ काम नहीं बन सकता, और जहाँ अर्थक्रिया न हो फिर वह कैसे द्रव्य है ? कुछ भी द्रव्य नहीं हो सकता, उसीको विवरणके साथ सुनो

जीवमें सत्त्व, असत्त्व, एकत्त्व, अनेकत्व आदि किसीका भी एकान्त कर लेने पर अर्थ क्रियाके अभावका प्रसंग—एक जीव पदार्थ है, वह सदा रहता है इसलिए नित्य है। अवस्थायें नहीं रहतीं, अवस्थायें मिट जाया करती हैं और अवस्थाओंमें तन्मय था वह जीव, जब अवस्था थी तो उस अवस्था संयुक्तद्रव्यपनेसे नष्ट हो गया जीव, अनित्य हो गया। वह जीव सब दशाओंमें वही वही एक है और जब पर्यायको देखते हैं तो पर्यायदृष्टिसे वहाँ अनेकता है। जैसे जो मनुष्य था सो देव नहीं, जो देव है सो मनुष्य नहीं, ऐसी विभिन्नता, अनेकता नजर आती है। जो क्रोधी था सो मानी, मायावी आदिक अवस्थारूप है। नहीं इत्यादि भीतरी परिणतियाँ अनेक हैं इनमें भेद पड़ता है तो यह अनेक हैं। अब देखो उन सब पर्यायोंमें वह जीव अभिन्न है, वही तो एक है पर पर्यायों परस्परमें भिन्न-भिन्न हैं। तो इस तरह जीवमें नित्यपना अनित्यपना एकपना अनेकपना, भिन्नता अभिन्नता आदि ये सब बातें सिद्ध होती हैं। अब उसमेंसे कोई एक ही धर्म माना जाये तो कुछ कार्य नहीं कर सकता, उसकी सत्ता ही नहीं रह सकती, उसमें परिणामन नहीं बन सकता। जैसे मान लो कि पदार्थ सत् ही है, सब कुछ सत् ही है, असत् है ही नहीं, जैसे कि तथ्य, तो यह है कि प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपसे सत् है पररूपसे असत् है, जैसे मैं मैं ही तो हूँ अन्य और चीज तो नहीं बन गया तो अन्य और कुछ मैं नहीं बना, इस दृष्टिसे तो कहना होगा कि मैं असत् हूँ, मायने अन्य कुछ नहीं हो सकता। सत् मायने है, असत् मायने नहीं है। तो अन्य पदार्थकी अपेक्षासे असत् और अपने स्वरूपकी दृष्टिसे सत्, इसमें यह आ गया कि वह सत् और असत् है। अब इसमें कोई यह आग्रह करे कि वस्तु सत् ही सत् है, मायने है ही है। अपने स्वरूपसे भी है, परके स्वरूपसे भी है। तो मैं मैं भी हो गया और दुनियाभरके पदार्थ भी हो गया, तो अब मैं क्या रहा ? कुछ भी नहीं। तो वहाँ काम नहीं बन सकता। यदि यह माना जाये कि पदार्थ असत् ही असत् है तो मैं जब हूँ ही नहीं तो मुझमें काम क्या हो ? तो जो अनेकात्मक न हो उसने अर्थक्रिया नहीं हो सकती। इससे मानना होगा कि वस्तु अनेकात्मक है। काम न हो कुछ तो वह पदार्थ क्या ? जैसे आकाशपुष्प है, है नहीं वह पदार्थ, अवस्तु है तो क्या आकाशके फूलकी माला बनाकर पहिनी जा सकती है ? नहीं पहिनी जा सकती। जो है ही नहीं उसमें कोई काम नहीं बनता। जो है उससे ही काम बनता है और है भी तभी है वह जब कि वह अनेकान्तात्मक हो।

सामान्य विशेष आदि धर्मोंमें किसी एक धर्मका एकान्त मान लेनेपर अर्थक्रियाकी असिद्धि—सामान्य न माने तो विशेषका अभाव, विशेष न माने तो सामान्यका अभाव, विशेष माने तो सामान्यका अभाव। उससे कोई काम न बनेगा। तो मानना होगा कि पदार्थ अनेकधर्मात्मक है। यदि सारे पदार्थोंको एक मान लिया जाये तो वहाँ

कोई काम ही नहीं बन सकता। यदि पदार्थको ऐसा क्षणिक मान लिया जाये कि जो एक-एक पर्याय है सो ही पूर्ण द्रव्य है तो वहाँ भी कोई काम नहीं बन सकता। जैसे जीवको माना कि मैं सदा काल एक ही रूप रहता हूँ तो परिवर्तन क्या होगा ? यदि यह मानें कि मैं तो एक समय रहता हूँ और यों एक शरीरमें एक दिनमें खरबों जीव पैदा हो जाते हैं, सुबह जो आत्मा था सो अब नहीं है, जो अब आत्मा है सो दोपहरको नहीं है, इस तरह एक एक क्षणमें नया-नया आत्मा होता है। वहाँ कोई एक न माना जाये तो जो आत्मा पैदा हुआ वह पैदा होते ही नष्ट हो गया, दूसरा हुआ नष्ट हो गया, काम कौन करेगा ? प्रवृत्ति कौन करेगा ? सो यदि सर्वथा क्षणिक माने तो वहाँ भी अर्थक्रिया नहीं हो सकती। कोई मानता है कि आत्मा अचेतन है, उसमें चेतना नहीं है, तो अगर अपेक्षासे माने कि अमुक प्रकारका विकल्प नहीं है इसलिए उसकी दृष्टिसे अब यह अचेतन है, अथवा इसके विकल्प नहीं है, वहाँ चेतना नहीं है यों अचेतन है, अथवा इसमें प्रमेयत्व आदि अचेतन धर्म भी हैं, यों अचेतन है। यह सब तो प्रकरणकी बात होगी, मगर सर्वथा ही अचेतन है तो आत्मामें अर्थक्रिया क्या रहेगी ? यों कुछ भी एकान्त किया जाये तो कार्य नहीं बन सकता।

आत्मामें मूर्तता या अमूर्तताके एकान्तकी अनुपपत्ति—अब आत्माके सम्बंधमें यह बताओ कि यह मूर्तिक है या अमूर्तिक ? मूर्तिक उसे कहते हैं जैसा कि ये शरीरादिक चीजें दिखती हैं। जो पकड़ा जा सके, बन्धनमें आ सके वह मूर्तिक है। तो बताओ आत्मा मूर्तिक है कि अमूर्तिक ? तो कुछ नजर आता है कि आत्मा मूर्तिक है। प्रायः साधारण लोग ऐसा ही सोचते हैं और कहते हैं कि ये जो पशु, पक्षी, मनुष्य आदिक दिख रहे हैं ये जीव हैं। तो उनकी दृष्टिमें जीव मूर्तिक लगा, लेकिन यह तो कल्पना कीजिए कि यदि जीव सर्वथा मूर्तिक ही है तो उसमें जानन कैसे बनेगा? मूर्तिक पदार्थमें जानन देखन नहीं बनता। यह जीव मूर्तिक है तो यह क्या जान पायेगा? मूर्तिक पदार्थ ज्ञानसे रहित होते हैं और दूसरी विडम्बना यह है कि यदि सर्वथा जीवको मूर्तिक ही मान लें तो फिर जीवका मोक्ष नहीं हो सकता। और मोक्ष होगा तो यह कहना होगा कि मूर्तिक पदार्थका मोक्ष होता है। पुद्गलका मोक्ष होता है। तो जो सर्वथा मूर्त माने जीवको वहाँ भी काम नहीं बनता और कोई सर्वथा अमूर्त माने कि सदा काल यह सर्वथा समग्र रूपेण अमूर्त है याने इतना तक भी न स्वीकार करें कि संसार अवस्थामें जब कर्मबन्धन है तो यह उपचारसे मूर्तिक है। कर्मोंसे बंधा है, उनसे अलग नहीं है, इस ढंगसे मूर्तिक है, इसको स्वीकार न करे तो संसार कैसे चलेगा ? संसारका लोप हो जायेगा। कौन जन्म-मरण करे ? आत्मा तो सर्वथा अमूर्त है। बन्धन नहीं रहता, तो न सर्वथा मूर्त और न सर्वथा अमूर्त सिद्ध किया जा सकता है।

आत्मामें एकप्रदेशित्व, अनेकप्रदेशित्व, शुद्धता, मलिनता किसी भी एकान्तकी अनुपपत्ति—अच्छा यह बतलाओ कि आत्मा एकप्रदेशी है या अनेकप्रदेशी ? जैसे कोई लोग मानते हैं कि आत्मा तो सिर्फ वटके बीजकी तरह ही है। जैसे वटके फलमें अनेक बीज होते हैं, उनमें एक बीज कितना छोटा होता है ? उतना छोटा आत्मा है और वह शरीरमें निरन्तर इतनी तेजीसे चक्कर लगाता रहता है कि लोगोंको यह भ्रम हो जाता है कि आत्मा इतना विशाल है, अनेकप्रदेशी है। ऐसा भी मानने वाले कोई दार्शनिक हैं। यदि इस तरह और इससे भी बढ़कर एकप्रदेशी माना जाये आत्माको तो उससे कोई काम न बन सकेगा, अर्थक्रिया न हो सकेगी। वह अणु मात्र आत्मा कहाँ चक्कर लगाता है, यह प्रतीति विरुद्ध बात है। जब हम कभी कोई सुख पाते हैं तो कितनी जगह हम एक साथ रोमांचित हो जाते हैं ? कितनी जगहमें हमको उस सुखका अनुभव होता है ? तो प्रतीति यह बताती है कि आत्मा अनेकप्रदेशी है। और, यदि यह कहा जाये कि जैसे ये चौकी आदिक अनेकप्रदेशी है, पहिले पीछे अनेक

अवयव हैं और इनमें एक-एक करके अनेक जगह हैं ऐसे ही आत्मामें भी भिन्न-भिन्न अणु जैसे हो गए। तो कोई एकान्तकी बात कहना सिद्ध नहीं होती। अच्छा बताओं यह हम आपका आत्मा शुद्ध है कि सर्वथा मलिन है ? यदि कहो कि सर्वथा शुद्ध है तो फिर इसमें बन्धन न हो, कर्म न हों जन्म-मरण न हो। फिरये सब दशायें क्यों हो रही हैं ? इससे सिद्ध है कि जीव सर्वथा शुद्ध नहीं है, और यदि यह कहो कि जीव तो सर्वथा ही मलिन है याने वह अपने स्वभावमें सत्त्वमें अपना कुछ स्वरूप निराला नहीं रखता, ऐसा सर्वथा यदि अशुद्ध मान लिया जाये तो यह कभी शुद्ध ही नहीं हो सकता क्योंकि जब स्वभाव ही शुद्ध नहीं है जीवमें तो यह परमात्म पर्याय कैसे प्रकट कर सकता ? तो यों अनेक विधियोंसे विचार करनेपर यह सिद्ध होता है कि पदार्थ अनेकान्तात्मक है। अब उसमेंसे गाथा द्वारा यह बतला रहे हैं कि किसी पदार्थको सर्वथा नित्य मान लिया जाये तो वह अर्थक्रिया नहीं कर सकता। उसमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

परिणामेण विहीणं णिच्चं दव्वं विणस्सदे णेव।

णो उप्पज्जेदि सया एवं कज्जं कहं कुणदि ॥ २२७ ॥

मोहसंकटसे छुटकारा करानेमें तत्त्वज्ञानकी समर्थता—यदि पदार्थको परिणमनसे रहित माना जाये तो वह उत्पन्न ही नहीं हो सकता, विनष्ट ही नहीं हो सकता, फिर कार्य ही क्या बनेगा ? अपने आपके स्वरूपकी प्रतीतिके लिए यह समस्त तत्त्वोंका वर्णन चल रहा है। मैं अपने आपको समझ जाऊँ कि वास्तवमें हूँ क्या ? अपनी समझ बिना जगतके जीव बाह्यमें न रमें, ऐसी अपनी वृत्ति बनायें तो हमारे समस्त दुःख दूर हो सकते हैं। और, जब बाह्यमें चित्त रमाते हैं उतना ही हम दुःखी होते हैं। रहना कुछ नहीं है ? ये साधन, ये संयोग ये घर, ये कुटुम्बीजन कुछ भी अपने साथ रहनेका नहीं है। इसको अधिक क्या सिद्ध करना है ? जो कुछ अब तक गुजरा है उससे ही सिद्ध है कि यहाँ कुछ भी रहनेका नहीं। हमारे बाबा, बड़बाबा ये भी अपनी भरी पूरी गृहस्थीमें रहते थे, अब क्या है उनका ? तो इसी तरह आज भले ही कुछ व्यवहार बन रहा है मगर यहाँ है क्या हमारा ? छोड़कर जाना ही होगा। कुछ ही समयकी बात है। अब इस ही कुछ समयमें कुछ चेत गए, अपने आपके आत्मापर कुछ दयाकर ली गई तब तो हमारा उद्धार है और यह दुर्लभ मानवजीवन पाना सफल हो जायेगा और ऐसे ही मोह ममतामें अगर शेष जिन्दगी भी बिता दी तो उसमें आत्माका कोई उद्धार नहीं है। थोड़े समयकी बात है, इस थोड़ेसे समयमें अगर चेत गए तब तो सब अनन्तकाल हमारा शान्तिमें गुजर जायेगा और अगर न चेत तब हो हमारा भविष्य बिगड़ जायेगा। अगर यहाँसे मरकर पशु पक्षी कीड़ा-मकौड़ा आदि बन गए तो फिर क्या कर सकेंगे? तो इस थोड़े समयकी सावधानीपर हमारा सब भविष्य निर्भर है। अब यदि एकदम आसक्तिसे ममतामें ही जुटे रहे, अपने उपयोगको ममत्वमें ही लगाये रहे तो फिर चिरकाल तकके लिए बुरा हो गया और अगर इस थोड़े समयमें चेत जायें तो फिर चिरकाल तकके लिए भविष्य सुन्दर रहेगा।

अपना आकिञ्चन्य—अपना कहीं कुछ नहीं, मरनेपर क्या साथ रहता आदि बात तो एक स्थूल दृष्टिसे कही जा रही है। अब जरा कुछ भीतरी दृष्टिसे देखें तो इस समयमें भी जिस समागमके बीच हम आप हैं वह समागम कुछ भी नहीं लग रहा, न उससे सुख होता, न उससे दुःख होता, न उससे हमारा सुधार हो रहा, न बिगाड़ हो रहा। हम अपना विकल्प बनाते हैं उस विकल्पसे तो सुखी-दुःखी होते हैं, उन्हीं विकल्पोंसे हमारा बिगाड़ होता है। यहाँ कोई हमारा नहीं है। यदि हम मान लें कि यह घर मेरा है तो मान लेने मात्रसे घर मेरा न बन जायेगा। मान लो अपना मान भी लें कल्पनासे तो वह अपना न बन जायेगा। एक साधु पुरुष किसी नगरीकी गलीसे जा

रहा था, रास्तेमें एक हबेलीके द्वारापर खड़े हुए पहरेदारसे पूछा क्यों भाई यह धर्मशाला किसकी है ? तो पहरेदार बोला महाराज, यह धर्मशाला नहीं है, यह तो अमुक सेठकी हबेली है। आप आगे चले जाइये, वहाँ धर्मशाला मिलेगी। तो साधुने फिर कहा मैं और कुछ नहीं पूछता, मैं तो पूछता हूँ कि यह धर्मशाला किसकी है ? पहरेदारने फिर वही कहा। इतनेमें वह सेठ (मकान मालिक) निकला और कहता है महाराज! यह धर्मशाला नहीं है, यह तो आपकी हबेली है। धर्मशाला तो आगे है, हाँ आप यदि ठहरना चाहें तो ठहर जाइये। तो साधु पूछता है इसको किसने बनवाया ?...हमारे बाबाने।...तुम्हारे बाबाजी इसमें कितने दिन रहे ?... महाराज वह तो पूरी बनवा भी न पाये थे, पहिले ही मर गए थे...फिर किसने पूरी बनावाया ?...हमारे पिताने।...तुम्हारे पिताजी इसमें कितने वर्ष रहे ? कुल ५ वर्ष रहे, फिर गुजर गए।...अब आप इसमें कितने वर्ष रहेंगे ? लो अब उस सेठकी आंखें खुलीं और वह सेठ महाराजके पैरों पड़कर कहता है महाराज! सचमुच मैं भूला था, यह हबेली मेरी नहीं। यह तो धर्मशाला है। और, एक बात और भी देखा कि यहाँकी धर्मशालाओंमें तो प्रेसीडेन्ट वगैरहसे कह-सुनकर तो १०-१५ दिन और भी ठहरा जा सकता है,पर यह धर्मशाला (हबेली) ऐसी है कि मरणके बाद कोई एक मिनटके लिए भी नहीं ठहर सकता। तो आखिर यहाँ अपना है क्या ? कुछ भी तो अपना नहीं है, सब कुछ छोड़कर जाना होगा।

वैराग्य बिना शान्तिकी असंभवता—यह जीव जब इन मायामयी पुरुषोंपर नजर करता है कि इस नगरमें अमुक ऐसा धनी है, अमुककी ऐसी इज्जत है, तो सारी सुधबुध खोकर उन विकल्पोंको करने लगता है। उस ममत्वमें बढ़ता है। तत्व देखो इन बाहरी प्रसंगोंमें फंसनेमें सार कुछ नहीं मिलता। दुःखी होते जाते और उसी दुःखके काममें लगे रहते। बस यही कार्यक्रम बना हुआ है। जैसे कोई पूछे कि आपका प्रोग्राम क्या है ? तो उसको उत्तर यह देना चाहिए कि हमारा तो एक यही प्रोग्राम नहीं है। कुछ भी प्रोग्राम बनाया जाये, बात वहाँ इतनी ही मिलेगी। दुःखी हो रहे हैं परके ममत्वसे और उस दुःखको मेटनेके लिए परका ममत्व करना ही उपाय समझते हैं। बुद्धिमें ऐसी विपरीत बात बैठी हुई है कि इन स्त्री पुत्रादिकके प्रेमसे मेरे दुःख शान्त होंगे। तो रागसे उत्पन्न हुए दुःखको मेटनेके लिए रागकी ही औषधिकी जा रही है तो वह दुःख मिटे कैसे ? जिस क्षण किसी भी विवेकके कारण राग न रहेगा, वैराग्यमें आयागा उस क्षण इसको शान्तिका अनुभव होगा। तभी तो बड़े-बड़े तीर्थकर चक्रवर्ती जैसे पुरुषोंने भी बड़ी विभूतिको त्यागकर आत्मामें ही चित्त दिया। बताओ उन तीर्थकरोंको गृहस्थीमें कितना सुख था, जिनके चित्तको रमानेके लिए बचपनमें इन्द्रादिक देव उन जैसा ही रूप रखकर उनके पास आते थे और उन तीर्थकर देवके चित्तको रमाते थे। बड़े-बड़े देव और इन्द्र सेवक बनकर उन तीर्थकर देवके पास रहा करते थे। वे देव उन तीर्थकर देवकी पूजा किया करते थे। बताओ क्या कष्ट था जिससे उन्होंने गृहस्थी छोड़ा और जंगलमें रहे ? अरे वे जानते थे कि यह संसार दुःखमय ही है। यहाँ किसी भी समय इस जीवको शान्ति नहीं है। ये सब मायामयी बातें हैं, इनमें मेरा निस्तारा नहीं है, मेरा आत्मा ही मेरे लिए सर्वस्व है और उससे ही मेरा काम चलता है चलेगा। मैं अपनेको यथार्थरूपमें समझूँ और उसमें ही रम जाऊँ तो सारे कष्ट दूर हो जायेंगे। विवेक करके तीर्थकरोंने वैभव त्यागा और अपने आपमें संतोष पाया।

ज्ञानानुभवसे संकटोंका परिसमापन—जैसे कछुवा नदीमें अपनी चोंच उठाकर चल रहा हो तो उसकी चोंचको चूँटनेके लिए अनेक पक्षी उसपर मंडराते हैं, वह कछुवा व्याकुल होकर यत्र तत्र भगता है।पर रे कछुवे, तेरेमें तो वह कला है कि यदि तू उसका उपयोग करले तो तेरे समस्त दुःख दूर हो जायें। तेरी कला यह है कि पानीमें चार अंगुल तू डूब तो जा, बस फिर ये पक्षी तेरा क्या कर सकेंगे ? तो इसी प्रकार यह जीव अपने

उपयोगकी चोंचको बाहर निकाले हुए हैं। बाह्यपदार्थोंको चित्तमें बसाये है, उनमें रमता है उनमें ममता करता है। तो चारों ओरसे यह संकटोंमें घिरा हुआ है, अनेक प्रकारके विकल्प बन गए हैं, विकल्प ही संकट हैं। तो क्यों व्यर्थमें ये संकट उठाये जा रहे हैं ? हे आत्मन्! तुझमें तो ऐसी सहज कला है कि तेरे सारे संकट अभी दूर हो जायें। अपने भीतरमें दृष्टिकर। अपनेको सबसे निराला देख! केवलज्ञानमय अपना अनुभव कर। मैं ज्ञानमात्र हूँ, यही मेरा सर्वस्व है। बस उस ही में तू रम जा, अन्य कोई विकल्प मत कर। किसीको अपना मत मान। ज्ञानका अनुभव होगा, परम शान्तिका अनुभव होगा, तेरे सभी संकट अभी मिट जायेगे। तो संकट दूर करनेके लिए ही वस्तुका यथार्थ ज्ञान किया जाता है। यथार्थ ज्ञानको हमें बड़े प्रयत्न करके प्राप्त कर लेना चाहिए।

पञ्जय-मित्तं तच्चं विणस्सरं खणे-खणे वि अण्णण्णं।

अण्णइ-दव्व-विहीणं ण य कज्जं किं पि साहेदि ॥ २२८ ॥

नित्यैकान्तकी तरह अनित्यैकान्तमें भी अर्थक्रियाकी असंभवता प्रकरणमें वस्तुका स्वरूप बता रहे हैं कि प्रत्येक पदार्थ नित्य भी है, अनित्य भी है। चूँकि वह पदार्थ सदाकाल रहता है इस कारण तो नित्य है और उसमें जो अवस्थाएँ होती हैं वे अनित्य हैं, जुदी-जुदी हैं। जैसे जब मनुष्य है तब मनुष्य है, मनुष्य मर कर देव बना तो देव है, मनुष्य न रहा। तो चूँकि इन पर्यायोंमें परस्पर भेद है, इस कारण पर्यायदृष्टिसे अनित्य है, यों नित्यानित्यात्मक माननेपर ही इसमें परिणमन बनेगा, काम बनेगा, व्यवहार बनेगा। यदि वस्तुको अनेकान्तरूप न माना जाये और किसी एक ही बातका हठ किया जाये तो वहाँ कोई कार्य नहीं बन सकता। जैसे पहली गाथामें बताया था कि जीवको सर्वथा नित्य मान लिया जाये उसमें कोई परिणमन न माना जाये तो ऐसी स्थितिमें इस आत्माका कोई काम नहीं होगा। परिणमन नहीं है तो भाव कहाँसे बने ? अच्छा बुरा, कषायें, शान्ति आदि कुछ भी बात न बनेगी, फिर यह संसार भी नहीं बन सकेगा। तो जैसे सर्वथा नित्य माननेमें वस्तु अर्थक्रियाकारी नहीं होता इसी प्रकार सर्वथा अनित्य माननेमें भी कार्य नहीं बन सकता। सर्वथा अनित्यका अर्थ यह है कि किसी रूपमें भी कुछ भी न था, और बन गया तथा बना कि तुरन्त मिट गया, ऐसा क्षणिकवादमें माना है।

ज्ञानक्षणोंके क्षणक्षयमें कार्यव्यवस्थाकी असिद्धि जैसे हम आपका जो शरीर है इस शरीरमें जो जीव है सो वह जीव एक नहीं माना क्षणिकवादियोंने, किन्तु माना है यह कि क्षण-क्षणमें प्रति सेकेण्डमें उससे भी कम समयमें नया-नया जीव ही उत्पन्न होता है और पैदा होते ही नष्ट हो जाता है। उनको इस सिद्धान्तमें कौनसा हित दीखा जो यह सिद्धान्त बनाया ? तो उन्होंने इसमें यह भलाई देखी होगी कि हम यह समझ जायें कि नया-नया जीव होता है। कोई एक जीव तो है नहीं इसलिए कुछ एक नहीं मानें और यों समझ लें कि वे भिन्न-भिन्न जीव हैं तो इसमें संस्कार न बन पायेगा। मैं हूँ, कल था, अब हूँ, फिर हूँ, तो वह विकल्प बढ़ाएगा, और जब मान लेंगे कि मैं हूँ ही नहीं, ये तो नये-नये जीव उत्पन्न होते हैं तो उससे उपेक्षा हो जायेगी मोह मिटेगा। यह बात ढूँढी क्षणिकवादियोंने लेकिन यह बात निभ कहाँ सकती थी ? जब आधार ही असत्य है तो यह बात बन न सकेगी। तो उनका कथन है कि जैसे एक तेलका दीपक जलाया गया तो उसमें बारी बारीसे आने वाली एक एक बूँद दीपक बनती जाती है। तो वे दीपक न्यारे-न्यारे हैं। यों एक-एक बूँदका एक एक दीपक माना। मगर वे दीपक निरन्तर बनते जा रहे हैं तो उसमें यह भ्रम हो जाता कि यह एक ही दीपक है। इसी तरह क्षणिकवादी कहते हैं कि शरीरमें नया-नया जीव प्रति समय उत्पन्न होता रहता है और निरन्तर होता रहता है, इस कारण यह भ्रम बन गया कि वही एक जीव है। हैं तो ये न्यारे-न्यारे और एक जीव होनेका इस कारण भ्रम हो गया कि जो जीव मरा,

उत्पन्न होते ही वह अपना आकार, अपना चार्ज, अपने विकल्प सब दूसरे जीवको सौंप देता है। तो इस कारण भी एक जीव माननेका भ्रम हो गया। तो क्षणिकवादमें क्षण-क्षणमें नया-नया जीव बनता है। कोई एक जीव नहीं है ऐसा माना है लेकिन ऐसा माननेमें कोई काम न बन सकेगा। जब अन्वयी द्रव्य न रहा अनादिकालसे अनन्तकाल तक रहने वाला कोई एक पदार्थ न रहा तो वहाँ कार्य क्या बनेगा ? परिणमन क्या होगा ? और, फिर नया-नया जीव बनता है इस स्थितिमें यह विडम्बना बनेगी कि पाप तो मिट गया, अब नया जीव हुआ। तो पाप करने वाला और, भोगने वाला और, कर्म बांधने वाला और वह मुक्त होने वाला और रहा, तो यह एक अव्यवस्था बनती है। इस कारण मानना होगा कि जीवद्रव्य तो एक है और उसकी परिणतियाँ अनेक होती हैं।

नित्यानित्यात्मकताके परिचयमें प्राप्तव्य शिक्षा□यों नित्यानित्यात्मक मानकर हम अपने लिए क्या शिक्षा लें कि मैं जीव हूँ, अनादिसे हूँ, अनन्तकाल तक रहने वाला हूँ, और मुझसे प्रतिसमय परिणमन होते हैं, अवस्थायें बनती हैं, वे अवस्थायें मेरे भावोंके अनुसार बनती हैं। शुभ भाव करूँ तो शुभ गति मिले, अशुभ भाव करूँ तो अशुभ गति मिले, और यदि शुद्ध स्वरूपमें रमण करने लगूँ तो मुक्ति प्राप्त हो। तो अपना सारा भविष्य अपने खुदके परिणामोंपर निर्भर है। हमें सावधान रहना चाहिए, क्योंकि मैं हूँ और मेरी अवस्थायें बनती रहेंगी। अब एक यह बड़ी जिम्मेदारी है मनुष्यभवमें कि हम अपना भविष्य सुन्दर और उत्तम बनानेके अधिकारी हैं। यहाँ ही हम अपने आत्माका कोई संस्कार न बना सके तो यह बहुत खेदकी बात होगी। देखिये जीव अनेक हैं कीड़ा-मकोड़ा, पशु-पक्षी आदिक। जैसे हम जीव हैं वैसे ही वे भी जीव हैं। जातिकी अपेक्षा हममें और उनमें कोई विषमता नहीं है। चेतन हम हैं, चेतन वे हैं, उनको देखकर यह भी निर्णय करना चाहिए कि ऐसी अवस्थायें हमारी भी कभी बनी होंगी, और यह भी निर्णय रखना चाहिए कि हम यदि नहीं चेतते तो ऐसी ही दशायें हमें प्राप्त होंगी, ऐसे ही जन्म-मरण करना पड़ेगा। अगर मरण करके कीट-पतंगे बन गए, तब सोचिये कि वहाँ क्या किया जा सकता है ? मन नहीं है, विवेक नहीं है, कुछ समझ नहीं है, आज मनुष्यभवमें हैं, कुछ विवेक मिला है, पुण्यके सब ठाट मिले हैं तो खूब स्वच्छन्द होकर मनचाही प्रवृत्तियाँकी जा रही हैं, मन चाहता है राग, मोह, तो यह आत्मा भी राग मोहमें लिप्त हो जाता है। तो इस स्थितिका फल अच्छा नहीं है। जो ज्ञानी संतजन हुए हैं वे बड़े धनिक होकर भी चक्रवर्ती होकर भी समस्त वैभवोंसे न्यारा अपनेको अनुभव करते थे। भरत चक्रवर्तीकी कथा पढ़ी होगी, अनेक घटनाओंमें यह बात मिलेगी कि लो हजारों राजाओंके बीच बैठे हैं, उनकी बात सुन रहे हैं, उनका नमस्कार ग्रहण कर रहे हैं, पर वे तो सबसे निराले अपने आपके स्वरूप पर दृष्टि किए हैं। रानियोंके बीच कुछ हास्य भी कर रहे, मगर भीतरमें उनका उपयोग उनसे अलिप्त है। वे अपने अन्तः प्रकाशमय ज्ञान स्वरूपपर दृष्टि डाले हुए हैं। बड़े-बड़े महापुरुष ऐसे हुए हैं जो बड़े वैभवोंके बीच रहकर भी अपनी यही समझ बनाए रहे कि यह सब पुण्यका ठाट है, पौद्गलिक है, मेरेसे भिन्न है, मैं तो एक चैतन्य मात्र हूँ। आप भी घर-गृहस्थीके बीच इस तरहकी दृष्टि बनाकर रह सकते हैं।

दुर्लभ मानवजीवन व जैन शासनसे परमार्थ लाभ लेनेमें भलाई देखिए-बिछुड़ना तो सब कुछ है ही। अगर अभीसे विवेकसे काम लेते रहेंगे तब तो आत्मा सद्गतिका पात्र बन सकेगा और यदि यहांकी इस मोह ममतामें ही अपने उपयोगको गढ़ाए रहे तब तो फिर इसे कुगतिका पात्र ही होना पड़ेगा। अज्ञान भावसे मरण करनेपर आगे भी दुर्गती होगी, इस कारण इतना विवेक करना चाहिए कि आज मुझे जो कुछ समागम प्राप्त है वो पुण्योद्यसे प्राप्त हुए हैं। अगर पुण्योद्य न होता तो लाख प्रयत्न करनेपर भी ये न प्राप्त होते। तो इन

समागमोंके प्रति अधिक विकल्प क्या करना? जैसी स्थिति है उसीमें अपनी व्यवस्था बना लें। वहां तो ऐसा साहस रखना चाहिए और भीतरमें कोई ऐसी ज्ञान साधना कर लेनी चाहिए कि हमारा भविष्य उत्तम बन जाए। ये स्त्री कुत्रादिकके प्राप्त समागम इस जीवका कुछ भी सहाय न कर सकेंगे। अभी यहीं देख लो कभी बुखार किसीको आ जाता है या सिरदर्द होने लगता है तो उसकी वेदनाको स्वयंको ही सहन करना पड़ता है, उसे कोई भी दूसरा व्यक्ति बांट नहीं सकता है। हां यदि उसके प्रति ख्याल बनाकर स्वयं कोई चिंतित हो जाए, दुःखी हो जाए तो यह बात और है। उसने भी अगर अपनेमें चिंतापूर्वक अपनेमें दुःख बना लिया तो उसका दुःख अलग है, सिरदर्द वाले व्यक्तिका दुःख अलग है, वह चिंता करके नया दुःख उत्पन्न कर सकता है पर उस दूसरेकी वेदनाओंको बांट नहीं सकता। तो हर स्थितिमें आप यही बात पाइएगा कि अपने किएका फल सब कुछ अपने अकेलेको ही भोगना पड़ता है। कभी प्रदार्थोंका स्वरूप देख लो सब भिन्न हैं, एक चीज़ दूसरी चीज़में मिली हुई नहीं है। इस प्रकार वस्तुके स्वरूपको भिन्न समझकर यदि अपने जीवनको विवेकपूर्वक व्यतीत किया जाए तब तो ये दुर्लभ मानवजीवन पाना, उत्तम जैन शासनका पाना सार्थक है अन्यथा तो इस दुर्लभ मानव जीवनको व्यर्थ ही खोना है। तो यही तत्व ज्ञान यहां बताया जा रहा है कि अपने आपका ऐसा अनुभव करें कि मैं एक जीव पदार्थ हूँ मैं सदा काल रहने वाला हूँ, मेरी अवस्थाएं, पर्याय बनती रहेंगी, फिर भी यही करना है कि अपने में भीतर बसे हुए परमात्माका अनुभव किया जाए, अध्ययन किया जाए ताकि खोटी अवस्थाएं न हों।

पावणव-कज्ज-विसेसा तीसु वि कालेसु होंति वत्थूणां।

एक्केक्कम्मि य समये पुव्वुत्तर-भावमासिज्ज ॥ २२९ ॥

दार्शनिकबोधकी हितकारिता—उक्त कुछ गाथाओंमें यह बताया गया है कि अनेकान्तमय वस्तु है तभी उसमें परिणामन सिद्ध किया जा सकता है, यदि एकांत हो तो उसमें परिणामन सिद्ध नहीं होता। अब इस गाथामें यह बतला रहे हैं कि अनेकान्त स्वरूप वस्तुको माननेपर ही कार्यकारणकी सिद्ध होती है। दार्शनिकका यह ही तो दर्श क्षेत्र है। जीव सर्वथा नित्य है, कोई मानता सर्वथा अनित्य है, इन बातोंको सुनते समय कुछ ऐसा लगता है कि ये तो कुछ व्यर्थकी बातें हैं, इनसे क्या प्रयोजन निकलता है, लेकिन मूल श्रद्धान जिससे कि सम्यक्त्व उत्पन्न होता है, यह करना ही पड़ेगा, समझना ही होगा। यह दार्शनिकोंकी बात व्यर्थकी नहीं है, इसपर श्रद्धान न होनेसे यह जीव किसी एक केन्द्रपर टिक नहीं पाता। जिसको यह स्पष्ट बोध है कि मैं नित्य हूँ ऐसी पर्यायें मुझपर गुज़रती रहती हैं इसलिए अनित्य हूँ, तो किसी भी पर्यायमें वह मोह न करेगा। मोह किससे करना? आज जो मोह किया जा रहा है वह मोहकी अवस्था भी क्षणिक है, किस जीवने विरोध करना? प्रत्येक जीव अपने आपमें अपना परिणामन करता है। कोई किसीका परिणामन नहीं करता। तो जो सदाचारकी बातें हैं, न्याय नितिकी बातें हैं उनमें दृढ़ रह सकें, उसके लिए इस अनेकान्त स्वरूपका बोध करना होगा। देखिए—अतीत भविष्य और वर्तमान कालमें जो जो भी नए नए कार्य होते रहते हैं वे सब एक ही पदार्थमें पूर्व और उत्तर पर्यायका आश्रय करके होते रहते हैं। जैसे हम ही में नई पर्याय बनती हैं, पुरानी पर्याय मिटती हैं, और हम वहींके वहीं रहते हैं, ऐसे उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य ये तीनों धर्म हममें हैं, इस श्रद्धामें हित कि वाञ्छा होती है कि जब मुझे सदा रहना है तो मुझे दुर्गतियों में गढ़ना यह मेरे हितकी चीज़ नहीं है। तो कोई ऐसा उपाय बनाना चाहिए कि हमारी गति उत्तम और शाश्वत शान्ति हमको प्राप्त हो। यह जिज्ञासा और ऐसी आशंका जब हो तब हम यही समझें कि मैं तो सदा रहने वाला हूँ और अवस्थाओंरूपमें परिवर्तन करता रहता हूँ।

पापका दुष्परिणाम—जो पाप परिणाम करेगा वही जीव उसका फल भोगेगा। और, यह भी निर्णय है कि जो कर्मबद्ध किया वह यों आसानीसे तो बदलने वाला नहीं है, उसका फल नियमसे भोगना पड़ेगा। यहां यदि कोई विशेष विवेक बने, विशेष दृढ़ भेदविज्ञान हो, अपने आत्मस्वरूपका विशेष उपयोग हो, स्वानुभव हो तो उसमें यह समर्थ है कि अनेक कर्मोंको किसी दूसरे कर्मरूप बदल दें, बड़े फलको छोटे फलरूप कर दें, अन्य प्राकृतिक रूप कर दें और इस तरहसे उन्हें खिला दें, यह बात अपने बहुत उँचे धर्म भावोंके द्वारा साध्य है। बांधे हुए कर्म यों आसानीसे नहीं टाले जा सकते। और, यहां ही देख लो, कोई पुरुष जीवनमें यदि मायाचार ही करता रहता है, अनेक छल करता रहता है, दूसरोंको धोका ही देता रहता है, या अनेक तरहसे पाप करता रहता है तो कुछ दिन बाद उसे बहुत बुरा समय इसी भवमें भी देखना पड़ता है।

शुद्ध भावोंकी आवश्यकता—कदाचित् किसी मनुष्यको ऐसी ज़िन्दगी मिले कि पाप करता रहा और अंत तक उसे बुरा फल न मिल पाया तो इतना तो निश्चय रखिए कि मरण तो उसका छोटे भावोंमें होगा। जीवन भर जिसने पापका संस्कार बनाया उसका मरण अच्छे भावोंमें नहीं हो सकता। और, भला सोचिए कि जो इस शरीरसे विदा हो रहा है, मरण कर रहा है और वह बुरे भावों में, मोहमें क्रूर परिणामों में मरण करे तो आगेकी ज़िन्दगी उसको सारी खराब ही मिलेगी, और मरण समय यदि शुद्ध भाव हो गया अर्थात् ऐसा भाव बन गया कि कितने समयकी बात है? दो-चार मिनटके लिए अब क्या किसीका ख्याल करना, इस प्रकारके निर्मल परिणाम बन जायें, तो वह बड़ी शान्तिपूर्वक मरण करेगा और आगेके जीवनमें भी उसको शान्ति और सुख प्राप्त होगा। तो कितना आवश्यक है मरण समयमें शुद्ध भावोंका होना। बताते हैं कि मरण समयमें जैसी मती होती है वैसी गति होती है। तो यह बात सही है। जो आरम्भ परिग्रहके बीचमें ही मरण करता है उसकी गति बताया है नरक, और मायाचारमें अपना मरण करता है उसकी गति है तिर्यञ्च। जिनके शुद्ध भाव रहते हैं उनकी गति मनुष्य हो, देव हो ये दो बताए गए हैं। तो इस बातको भी कुछ ध्यानमें रखना है ज़िन्दगीमें कि हम अभीसे कुछ ज्ञान मार्गमें बढ़े तो यह मरण समयमें काम देगा। यदि जीवन भर ज्ञान मार्गमें न आये तो मरण समयमें बड़ी बुरी अवस्था होगी और आगे भी छोटी गतियोंके घोर दुःख सहन करने होंगे।

तत्त्वज्ञानका साहाय्य—तत्त्वज्ञान ही हम आपका साथी है, यह हम आपकी मदद कर सकेगा, अन्य कोई दूसरा हमारा साथी नहीं है जो कि मदद कर सके। दूसरे लोग कोई कितना ही समझाए जब हम स्वयं ही कुछ समझें तब शान्त हो सकेंगे। तो हमारा ही ज्ञान हमको विपत्तिके समय मदद करेगा। इष्टका वियोग हो गया, स्त्री, पुत्र, माता-पिता आदिमें से किसीका वियोग हो गया तो उस वियोगके अवसरमें उस ही ओर दृष्टि रहती है। उसका ही ख्याल बनाए रहता है, तो उस उपयोगमें होता है दुःख, और जब विवेक हो गया कि जब सदा मैं अकेला हूँ, मेरा कोई दूसरा यहां है ही नहीं, सब स्वप्नवत् है, इससे न होता सम्बन्ध, किसी अन्य जीवका सम्बन्ध होता तो उस जीवसे मोह करता यह जीव। तो जीवसे तो कोई नाता न रहा। मैं आत्मा स्वतन्त्र अपने स्वरूपमें हूँ, इसका कोई दूसरा साथी नहीं है। इस विवेकका अभ्यास किया जाए, इस ओर उपयोग दिया जाए तो देख लीजिए वह विपत्ति कम हो जाएगी और मिट भी जाएगी।

संसारकी असारता जानकर अन्तस्तत्त्वमें तृप्त होनेकी साधनाका आदर— एक बार एक राजाने दूसरे राजापर चढ़ाई की, तो उसके सारे वंशका नाश कर दिया। केवल उसके वंशका चाचा जीवित बचा। वह बेचारा किसी शमशानमें जाकर वहीं रहने लगा था। अब उसे किन्हीं बाहरी पदार्थोंसे ममता न थी। अब जिस राजाने पूरे वंशका नाश किया था उसके चित्तमें कुछ विरक्ति उत्पन्न हुई, सोचने लगा ओह! व्यर्थ ही मैंने निरपराध जीवोंकी

हत्याकी। मैंने बड़ा खोटा काम किया....। बस उसे राज्यभोगकी इच्छा न रही। वह किसी ऐसे व्यक्तिको ढूँढने निकल पड़ा जो उस दूसरे राजाके वशोंमें हत्या किये जानेसे बच गया हो। लोगोंसे पता लगाया। तो पता चला कि हाँ उस राजा वंशमें उसका एक चाचा भर जीवित बचा है, वह भी आजकल शमशान में रह रहा है। इतनी बात सुनकर राजा उसी शमशानमें पहुँचा जहाँ कि वह राजाका चाचा रह रहा था। राजाने बहुत विनयपूर्वक कहा महाराज मेरा अपराध क्षमा हो, मैंने व्यर्थ ही निरपराध लोगोंकी हत्यायेँ कीं। अब मुझे अपनीकी गई गलतीका बड़ा पछतावा हो रहा है। अब मुझे राज्य सुखकी वाञ्छा नहीं रही। कृपा करके आप जो चाहें हमसे माँग लीजिए। हम आपको सबकुछ देनेको तैयार हैं। (राजा तो सोचता था कि मेरे पास बहुत बड़ा राज्य है। वह इतने बड़े राज्यसे बढ़कर और क्या माँगगा।) सो वह चाचा बोला मैं जो कुछ माँगूंगा क्या आप मुझे सचमुच दे देंगे? ..हाँ दे देंगे।.....तो आप मुझे ऐसा सुख दे दें जिसके बाद फिर कभी भी दुःख न हो। राजा उसकी बात सुनकर बड़े चिन्तनमें पड़ा ओह! यहाँका कौन सा ऐसा सुख है जिसके बाद दुःख न हो। कोई भी ऐसा सुख न दीखा तो बोला महाराज आप कोई दूसरी चीज़ माँगें, आपको मैं वह सुख तो देनेमें असमर्थ हूँ जिसके बाद दुःख न हो।...(भैया यहाँ किसी भी सुखको आप ले लीजिए, हर सुखके बाद दुःख अवश्य मिलेगा, हाँ एक आत्माका आनन्द जो कि परमात्माके प्रकट हुआ है, जिसके कारण हम आप रोज़ उसकी उपासना किया करते हैं वह आनन्द तो ऐसा है जिनका कभी विघात नहीं है, क्योंकि वह कर्मोंके क्षयसे प्रकट हुआ है, किसी वस्तुके सहारेसे नहीं हुआ है। प्रभुका आनन्द सांसारिक सुख नहीं है, वह तो अनिवाशी है। पर सांसारिक कोई सुख ऐसा नहीं है कि जिसके बाद दुःख न आया करता हो।) तो राजा शरमा गया। और कहा आप कोई दूसरी चीज़ माँगें। ...अच्छा तो आप हमें ऐसा जन्म दे दीजिए जिसके बाद फिर मरण न हो। (अब बताओ है कोई ऐसा जन्म जिसमें मरण न हो? नहीं है ना,) बहुत सोच विचारके राजा बोला आप कोई तीसरा चीज़ माँगिए, मैं आपको यह चीज़ भी दे सकनेमें असमर्थ हूँ। तो चाचा कहता है अच्छा आप हमें ऐसी जवानी दे दीजिए जिसके बाद बुढ़ापा न आये। (भला बताओ है कोई ऐसी जवानी जिसके बाद बुढ़ापा न आये? नहीं है ना, अभी ये बच्चे लोग जो बूढ़ोको देख-देखकर हँसा करते हैं तो क्या उनका यह बुढ़ापा न आयेगा।) आखिर राजा न दे सकनेसे उदास होकर वापस लौट गया। तो यहाँ संसारकी कोई ऐसी स्थिति नहीं है जो इस जीवनको आराम दे सके। तो इन प्राप्त समागमोंको तुच्छ समझना चाहिए, क्योंकि हम आपका वास्तविक वैभव तो प्रभुके समान अलौकिक वैभव है। उस निजी वैभवकी ओर दृष्टि गड़ाकर और घरमें रहना हो रहा है सो काम करना होगा सो किया जाता है, मगर भीतरमें निर्णय यहीं बनाए कि मैं तो उस जातिका हूँ जिस जातिके परमात्मा हैं। उनके ही समान विशुद्ध ज्ञान और आनन्दका मेरा स्वरूप है, दृष्टिमें लूँ, उसे देखकर तृप्त रहा करूँ, तो इससे मेरे समस्त संकट टल सकते हैं। इन समागमोंसे मेरे संकट न टलेगें किन्तु संकट बढ़ेंगे और जन्म-मरणकी परम्परा बढ़ेगी।

पुव्व-परिणाम-जुत्त कारण-भावेणा वट्टदे दव्वं।

उत्तर-परिणाम जुदं तं चिय कज्जं हवेणियमा ॥ २३० ॥

पूर्वपर्यायसंयुक्त द्रव्यकी कारणरूपता व उत्तरपर्यायसंयुक्त द्रव्यकी कार्यरूपता—पूर्व-पर्यायसहित द्रव्य कारण भावसे बताया गया है और उत्तरपर्यायसहित द्रव्य कार्य कहा गया है। कारण और कार्यकी बात कही जा रही है और यह भी उपादान दृष्टिसे। जैसे मुट्टीसे एक अंगुलीको पकड़कर टेढ़ा कर दिया तो कार्य क्या कहलाया? इस अंगुलीका टेढ़ा हो जाना। अब पूछा जाय कि अंगुलीके टेढ़ी होनेके कारण क्या है? तो बाह्य दृष्टिमें तो यह कहा जाएगा कि इस मुट्टी ने, इस दूसरे हाथने इसको टेढ़ा किया। तो दूसरा हाथ कारण है, और उपादान

कारणकी ओरसे यह कहा जाएगा कि इस बीचकी अंगुलीके टेढ़ा होनेका कारण यह बीचकी अंगुली है, यों दो तरहसे उत्तर होते हैं ना? जैसे मिट्टीमें घड़ा बना तो कोई पूछे कि घड़ा बनानेका कारण क्या है? तो एक दृष्टिसे यह कहा जाएगा कि कुम्हार है, चाक है आदि। तो एक कोई यह भी तो कह सकता है कि घड़ा बनानेका कारण तो वह मिट्टी है जिसकी घड़ा दशा हुई है। तो यहाँ उपादान कारणकी दृष्टिसे कारण कार्य बात बता रहे हैं। पहिली अवस्था कारण है और बादकी अवस्था कार्य है। घड़ेका कारण मिट्टी है। तो क्या सारी मिट्टी है? नहीं। जिस अवस्थाके बाद घड़ा बनेगा याने जो तैयारकी हुई (सनी हुई) मिट्टी है और चाकपर रखी हो उसे कहेंगे कि यह कारण है। इसी तरह प्रत्येक पदार्थमें जो अवस्था बनती है उस अवस्थासे पहले समयमें रहने वाली अवस्था उसका कारण है। तब यहाँ अब तीसरी बात सुनो। क्या केवल अवस्था कारण है? कहते हैं कि केवल अवस्था तो कहीं किसीने देखा नहीं है। मिट्टी न हो और घड़ा बन जाए, ऐसा कहीं हो सकता है क्या? केवल पर्याय किसीने नहीं देखा। होता ही नहीं, किन्तु पर्याय सहित द्रव्य होता है। कोई चीज़ है उसकी हालत है तब कहना होगा कि पूर्व पर्याय सहित द्रव्य उत्तर पर्याय सहित द्रव्यरूप कार्यका कारण होता है।

कष्टके प्रसङ्गमें कारणकी समीचीन अन्वेषणा पद्धति—उक्त कथनसे हमें अपनेमें क्या देखना है, अपनेमें जो परिणाम होते रहते हैं, सुख दुःख होते रहते हैं उन सुख दुःख आदि कार्योंका उन शुभ अशुभ परिणाम स्वरूप कार्योंका कारण कौन है? हमारी ही पर्याय। हम ही उसके कारण हैं। यह उपादान दृष्टिमें समझ लेना चाहिए। जो लोग केवल निमित्त दृष्टि रखकर ही कारणोंका निर्णय बनाते हैं। इसने मुझे दुःख दिया, इसने मुझे दुःखी कर दिया, इस तरहकी निगाह रखकर लोग दूसरोंपर रोष किया करते हैं। उसकी यह दृष्टि मिथ्या है। अपने आपमें भी तो फर्क करें कि खुदका अपराध है कि नहीं जो दुःखी हो रहें हैं। और, निश्चय तत्व यह बतलाता है कि जितने भी हमारे दुःख हैं उन सबमें हमारा अपराध ही कारण है। दूसरोंके अपराधसे हम दुःखी नहीं होते। इसका विवरण करके समझिए किसी पुत्रने कोई बात नहीं मानी, तो आप अर्थ लगाते हैं कि इसने मुझे दुःखी किया है। अरे उसने नहीं माना, तो न सही, उसका परिणामन उसमें है। वह जीव है, आपसे भिन्न है, आपका क्या बिगाड़ किया? लेकिन वहाँ जो ममता लगाई है और जो कल्पनाएं बनाई हैं कि मेरा होकर मेरी बात नहीं मानता, बस इस कल्पना ने, इस मिथ्या धारणाने दुःखी कर दिया। इसी तरह हर घटनामें आप लगाते जाइए, जितने भी आपको दुःख होते हैं वह सब अपने अपराधसे होते हैं, दूसरेके कारणसे नहीं। तो ऐसी बात जानकर हम अपने अपराधको दूर करते हैं तो हमारे दुःख दूर हो जाएंगे। अपना अपराध ढूँढ़ें, छाने, छान-छानकर अपने अपराधको मिटाएं तो अपना भविष्य सुन्दर बनेगा। जैसे भोजनकी बात कह-कहकर केवल गप्पे लगाकर पेट नहीं भरता, सभी लोग जानते हैं। ऐसे ही तत्वकी बात केवल सुन-सुनकर या ऊपरी कथन कर-करके य मामूली जानकारी कर-करके उसका आनन्द नहीं लूटा जा सकता। अपनेमें साहस बनाकर अपने में बात घटित करके एक बार भी समझ तो लें कि सारे अन्य पदार्थोंसे निराला केवल एक चैतन्य मात्र मैं आत्मा हूँ, जब मैं ऐसा नहीं सोचता अपनेको तो ये मेरा अपराध है और उस अपराधके कारण ही हम दुःखी हुआ करते हैं। तो इस गाथामें बताया गया है कि पूर्व पर्याय सहित द्रव्य कारणों भाव रूपसे है और उत्तर पर्याय सहित द्रव्य कार्य कहा है।

जीवो अणाइ-णिहणो परिणाममाणो हु णवं-णवं भावं।

सामग्गीसु पवट्टदि कज्जाणि समासदे पच्छा ॥ २३१ ॥

जीवकी अनादिनिधनता व नव नव परिणति—अब जीव द्रव्यके सम्बन्धमें उस कारण कार्यके प्रभावकी बात बतला रहे हैं। जीव द्रव्य अनादि अनन्त है। इस जीवको किसीने पैदा नहीं किया। यह आदिसे है, याने

अनादिसे है। इस जीवका क्या कभी अंत हो जाएगा?...नहीं। अनन्त है। एक नियम है कि जो भी पदार्थ सत् है वह न किसीके द्वारा पैदा किया है और न किसी समयमें उसका समूल नाश हो सकता है? कुछ लोग कल्पना करते हैं कि इस सारे जगतको किसी एक शक्ति ने, ईश्वरने उत्पन्न किया, पर कारण कार्य विधानपूर्वक दृष्टि देकर सोचें तो सही, कोई भी बात उत्पन्न की जाती है तो कुछ तो होती है जिसको बनाया जाता है। जीव बनाया तो किसी चीज़से बनाया या कुछ भी नहीं था और यों ही बन गया? अथवा जैसे घड़ा बनता है तो मिट्टीसे बनता है ना। या कपास है उससे कपड़ा बनाया गया, तो इतने जीवों को, शरीरों को, इन ढेरोंको रचा गया तो कुछ था उससे रच गया या कुछ भी न था और उससे रच दिया गया? यदि इतनी बात आप ध्यानपूर्वक सोचेंगे तो चित्त कह उठेगा कि कुछ था उसीमें रच गया। जो न था वह तो रचा नहीं गया। तो इतनी बात तो यहाँ जान ली गई कि कुछ है तब रचा गया। तो जो कुछ है, जिससे रचा गया वह स्वयंसिद्ध है। तब यह तो नहीं कहा जा सकता कि इन जीवोंको किसने बनाया। अब रहा यह कि द्रव्योंको नहीं बनाया है तो उनकी अवस्था बनाई। तो उन अवस्थाओंका वह ईश्वर उपादान कारण है या निमित्त कारण है? इन दो विकल्पोंमें जब निर्णय करने चलेंगे तो इसका भी समाधान मिल जाता है जैसे कि यदि उनका उपादान कारण है तो दुःखी हो कोई तब तो ईश्वरको भी दुःखी हो जाना चाहिए, जन्मे-मरे, विकल्प हो, संकट हो तो ईश्वर ही संकटमें आया क्योंकि वह उपादानभूत है। और फिर वह एक है, तो जितने अनुभव हैं जीवों के, एकका अनुभव हो तो, सभीके अनुभव हो जाने चाहिए। और, यदि निमित्त कारणकी बात कहते हो तो इसका अर्थ है कि वह भिन्न है, रचना करने वाला नहीं किन्तु इनकी रचानामें एक वह भी कारण है, और विशेषतया विचार करें तो इन पदार्थोंकी इन पर्यायोंके होनेमें कोई ईश्वर निमित्त कारण नहीं है, किन्तु पदार्थमें उत्तरोत्तर परिणतीयां होती रहती हैं तो इन परिणतीयोंका उपादान कारण पूर्व परिणतिमें आया हुआ द्रव्य है।

उपादानकारणका फलितार्थ—उपादान कारणका अर्थ इतना है कि किसी आधारमें कार्य बना तो जो उत्तर पर्याय होती है तो वह पूर्व पर्याय संयुक्त द्रव्यमें बनी है। निराधार परिणमन नहीं होता कि कुछ न हो और कार्य आ जाए। वह तो असत्का कार्य कहलाएगा। तो जो भी कार्य बनता है वह निराधारमें कार्य नहीं होता। तो उस कार्यका आधारभूत कौन है? तो यह उत्तरमें आता है कि पूर्व पर्याय संयुक्त द्रव्य। अब इस निर्णयसे प्रत्येक उत्तर पर्यायका उपादान कारण पूर्वपर्याय संयुक्त द्रव्य होगा। जैसे यहां असत्से शुद्ध पर्याय होती हो, सम्यक्त्व हो तो जिस क्षण सम्यक्त्व हो तो उस क्षणमें जो सम्यक्त्व जगा है वह है कार्य, वह कार्य क्या निराधार है? किसीमें हुआ नहीं क्या? उसका आधार है। उसका आधार कौन है? पूर्वपर्याय सहित द्रव्य। अब सम्यक्त्व जगा उससे पूर्व पर्यायको कहा जाएगा कि वह सम्यक्त्व रहित है। तो कुछ भी हो, जो भी उस पर्यायका आधारभूत हो वह उपादान कारण है इस निगाहमें सम्यक्त्वका आधारभूत पूर्वपर्याय सहित द्रव्य है। उसके विश्लेषण में पर्यायको मिथ्यात्व कहो तो कह लीजिए। फिर भी उपादान कारणका विरोध नहीं होता। उपादानकारणका अर्थ यह है कि वह कार्य किस आधारमें हुआ है? तो यह मानना होगा कि उसका आधार पूर्वपर्याय सहित द्रव्य है। अब रही यह बात कि सम्यक्त्व जैसी उत्कृष्टपर्याय क्या मिथ्यात्व पर्यायसे उत्पन्न हुई है? सो यहाँ किसी भी कार्यको पूर्व पर्यायसे यह हुआ है यह नहीं कहा जाता, किन्तु पूर्वपर्याय संयुक्त द्रव्य में यह कार्य हुआ है और हुआ है वह पूर्व पर्यायोंके विनाशवाला तो वहाँ इतना ही निरखना है कि वह पूर्वपर्याय सहित द्रव्य न होता तो यह उत्तरपर्याय किस आधार में बनती? यह आधार बतानेके लिए उपादानकारणका वर्णन होता है। अब यह भी अगर निरखा जाए कि

मिथ्यात्वसे एकदम सम्यक्त्व पर्याय कैसे हो गई? तो भला सम्यक्त्व क्षणसे पूर्व होने वाली पर्यायोंको सम्यक्त्व रहित होनेके कारण मिथ्यात्व कह दिया जाए किन्तु वह स्थिति कैसी होगी? करणानुयोगमें अधःकरण, अपूर्वकरण, अनवृत्तिकरण परिणाम और उन परिणामोंमें किस प्रकारका अंतिम मिथ्यात्वपर्याय है, उसपर जब दृष्टि देते हैं तो वहाँ यह प्रतिभास होता है कि क्या वह मिथ्या पर्याय है। वह सम्यक्त्वरहित पर्याय। और मिथ्यात्व के उदय वाली पर्याय, लेकिन जहां मिथ्यात्वका एकदम उपशम होना है अथवा विनाश होना है उससे पहिले वह मिथ्यात्वपर्याय इस ढंगकी मिथ्यात्वपर्याय नहीं है कि जिसको सुनकर एकदम आश्चर्य हो बैठे कि अरे ऐसे मिथ्यात्वसे जैसा कि हम आप लोगोमें पाया जाता है, कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र आदिकी श्रद्धा या अचेत अवस्था या अज्ञानता भरी अवस्था, ऐसी पर्याय वह नहीं है जिसके बाद वह सम्यक्त्व पर्याय हुई है, फिर भी उपादान कारणका अर्थ इतना ही मात्र है कि यह उत्तरपर्याय पूर्वपर्याय सहित द्रव्य आये बिना, हुए बिना हो ही नहीं सकती थी अतएव इस पर्यायका उपादान कारण कहलाता है।

अपने क्लेशोंका कारण अपना अपराध—अब अपने क्लेशोंके कारणोंकी बात सोचिए जितने भी हम आपको क्लेश हुआ करते हैं उन सब क्लेशोंमें उपादान कारण तो हम ही हैं और कर्मोदय होना बाह्य निमित्त है। यह सब निमित्त कारण कहे जाते हैं, आश्रयभूत कारण कहे जाते हैं। यहां परम शुद्ध निश्चयनयसे निरखनेपर न तो दुःख पर्यायका अस्तित्व जाना जाता है और न उसके कारण कार्यका विधान बनता है। वहाँ तो यह शुद्ध चैतन्य मात्र ही दृष्टिगत ही होता है तब जब हम अशुद्ध निश्चयनयसे वर्णन करते हैं तो वहाँ यह प्रश्न होनेपर कि यह इसमें पर्याय कैसे हुई है? तो कारण बताना होगा कि इसमें ही वह दुःखपर्याय हुई है, किसी अन्य पर्यायसे वह दुःखपर्याय नहीं हुई है।

अब इसके विश्लेषणसे हम कुछ और आगे बढ़ते हैं तो वह सब व्यवहार कथन हो जाता है। कैसी वह पर्याय है, कैसे उस समयके विचार हैं जिन विचारोंसे यह दुःखपर्याय हुई है? वह सब विश्लेषण नाना रूप होनेके कारण व्यवहारनयका विषय बनता है। वहाँ जब हम निश्चयनयका और व्यवहारनयका भेद डालते हैं निश्चयनयसे देखा जाता है एक पदार्थ, व्यवहारनयमें देखा जाता है अनेक पदार्थ, तो जब हम निश्चय पद्धतिसे देखते हैं तो वहाँ यह कहना होगा कि दुःख जितने होते हैं वह चतुष्टयसे होते हैं, हमारे कारणसे होते हैं और वह कारण अपराध रूप है निरपराध रूप नहीं है। अपराध कहते हैं जहाँ राधा अपगत हो गई है, राधा मायने सिद्धि। जैसे कोई लोग कहते हैं कि राधा भगवानसे अभिन्न थी यानि कोई दूसरी चीज़ न थी, राधामें ही भगवान है। तो उस राधाका अर्थ कोई देवी नहीं, किन्तु आत्माकी जो विशुद्ध परिणति है उसका नाम है राधा। सिद्धि भी कह सकते हो। उस आत्मानुभूतिसे जो अलग हो गया है उस भावको अपराध कहते हैं। तो इस दृष्टिसे जितने भी क्लेश हैं अपराध रूप हैं और अपराधसे हुए हैं। कुछ अपने आपके क्लेशोंके कारणोंको समझनेके लिए हमको जो क्लेश हुए हैं, हम अधिकतर दृष्टि बाहरी जीवोंपर डालते हैं कि इसने मुझे दुःखी किया, कुटुम्बके इतने सारे लोगोंने मुझे परेशान कर डाला अथवा कोई परेशान स्पष्ट न कर रहा हो और यह मोहमें दुःखी होकर अपनेको परेशान समझकर यों कहता है कि मुझे देखो कुटुम्बने फांस रखा, इन्होंने मुझे दुःखी कर रखा। इन सब बातोंका उत्तर यदि विवेकपूर्वक सोचा जाता है तो यह आता है इन्होंने मुझे नहीं फांसा, इन्होंने मुझे दुःखी नहीं किया, किन्तु मैं ही अपने आपको अज्ञानी बनाकर मोही बनाकर स्वयं फांसा हूँ और इसी कारण दुःखी होता हूँ। तो मुझमें दुःख मेरे ही अपराधसे है, इसका निश्चयनयसे भी होता है और व्यवहारनयसे भी होता है।

योगसद्रव्यक्षेत्रकालभाव सामग्रीमें पदार्थका योग्य परिणामन—यहां प्रकरणमें यह बता रहे हैं कि यह जीव द्रव्य अनादि अनन्त है, इसमें प्रति समय नई-नई पर्यायोंको उत्पन्न करनेके लिए यह जीवद्रव्य, यह जीव योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भाव सामग्रीसे युक्त होता है। जहां जिस स्थितिमें जो पर्याय बनती है वह उन्हीं स्थितियोंमें बना करती है। यहां यह निरखना है कि योग्य सामग्री प्राप्त होने पर ये पर्यायें बना करती हैं। कोई जीव अत्यन्त मोही हो और कहा जाए कि ये दूसरे समय में सिद्ध बन जाए तो क्या यह होता है? जब योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी सामग्री अन्तरंगमें आती है तब उस उस प्रकारकी पर्याय बनती है और वहां ऐसी नवीन-नवीन पर्यायोंको यह उत्पन्न करता है। जैसे कोई जीव देवपर्याय पानेके लिए इस योग्य बतना है ना कि व्रतोंको धारण करता, सामायिक पूजा-पाठ धर्मध्यान आदिक सामग्रियोंको अपनाता, तो वह मनुष्यपर्यायको छोड़कर देवपर्याय धारण करता है। जैसे-जैसे कारण बताये गए हैं गतियोंमें उत्पन्न होने के, कोई बहुत आरम्भ परिग्रहमें फंसा हुआ है तो वह नरक गतियोंमें जाता है। तो जिन्हें नरक गतिमें जानेका ही काम पड़ा है वे ऐसी ही सामग्रीसे संयुक्त होते हैं, तो इस तरह योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, भाव सामग्रीमें ये अनादि अनन्त जीव अपनेमें नवीन-नवीन पर्यायोंको उत्पन्न करते हैं तो वहां अन्तरङ्ग कारणकी अपेक्षासे निरखा जाये तो यह बात बनती है कि जीव ही स्वयं पूर्वपर्याय सहित होकर उत्तर पर्यायका कारण बनता है। और वहां यदि कोई विषम पर्याय बन रही है, स्वभाव विपरीत पर्याय बन रही है, विकृतपर्याय हो रही है तो समझना चाहिए कि कोई अन्य द्रव्य भी वहां कारण है।

कार्यकारणविधानके परिचयमें हितंकर निर्देश—इस विवरणसे हम आपको यह शिक्षा लेना है कि हममें जो विकार जगता है, जिस विकारके कारण हम दुःखी हैं, राग-द्वेषादिक विकल्प जगते हैं उन राग द्वेषादिक भावोंकी उत्पत्ति हुई किस प्रकार है? यद्यपि वे भाव मुझमें हुए हैं तो उनका उपादान कारण मैं हूँ, लेकिन ये मेरे स्वभावके खिलाफ भाव है। तो यह निश्चय है कि कोई अन्य विजातीय पदार्थ मेरे साथ लगा हुआ है वह निमित्त है, जिस निमित्त कारणसे हममें ये विकार पर्यायें उत्पन्न हुई हैं। तो ये रागद्वेष ये नैमित्तिक भाव हैं, अन्य पदार्थोंका निमित्त पाकर उठे हुए भाव हैं। मेरे स्वरूप नहीं हैं, निमित्त नैमित्तिक व्यवस्था माननेपर भेद विज्ञानका उदय करनेमें बहुत सहयोग मिलता है। यह घरमें नहीं हूँ, यह तो प्रकट सिद्ध बात है। घर दूसरी जगह है, मैं दूसरी जगह हूँ। यह घर अचेतन है, मैं चेतन हूँ। ये कुटुम्बके जीव मैं नहीं हूँ, यह भी प्रकट सिद्ध बात है। ये भिन्न हैं, मैं भिन्न हूँ, देह मैं नहीं हूँ, यह भी भट मानी जा सकने योग्य बात है क्योंकि मरते हुए व्यक्तिको लोग देखते हैं कि उसका जीव निकल जाता है, शरीर यहीं पड़ा रह जाता है और जला दिया जाता है। किन्तु, ये रागादिक विकार भाव मैं नहीं हूँ यह समझना कुछ कठिन होता है। तो इस निमित्त नैमित्तिक भावके परिज्ञानने इस भेद विज्ञानको सरल कर दिया, ये नैमित्तिक भाव हैं, कर्मके उदयका निमित्त पाकर हुए हैं, ये मेरे स्वरूप नहीं हैं। मैं तो स्वतः सहज चैतन्यमात्र हूँ। ये सब बातें कार्यकारणविधानकी सही जानकारीसे मिलती है, अतः कार्यकारणविधानका यह वर्णन किया जाता है।

हम आपकी स्थिति व कर्त्तव्य—हम आप सब एक एक जीव हैं और हम आप सब ही ज्ञान आनन्दका स्वभाव रखते हैं, लेकिन हो क्या रहा है हम आपमें कि ज्ञान भी बिगड़ा हुआ है और आनन्द भी बिगड़ा हुआ है। यद्यपि स्वभाव ज्ञान और आनन्दका है, सो किसी प्रकारके संकटकी बात न होना चाहिए, जो प्रभुका स्वरूप है वैसा ही मेरा स्वरूप है, लेकिन बीत क्या रही है कि ज्ञान भी तुच्छ है अथवा उल्टा भी है तथा आनन्दका तो

बहुत ही रहते हुए ये जीव अनेक जन्म-मरण करते चले जा रहे हैं। पशु-पक्षी कीड़ा मकौड़ा नकर तित्त्रयञ्च आदि नाना प्रकारके देहोंको धारण करते चले आ रहे हैं। आज बड़े सुयोगसे ही हम आप भी जीव हैं। क्या ऐसी पर्यायें हम आपकी न थीं? अब आज मनुष्य हुए हैं और साथ ही श्रेष्ठ कुल, श्रेष्ठ धर्म मिला है तो इतने उत्तम दुर्लभ समागमसे हम अपने लिए कौन-सा अनुपम लाभ उठा रहे हैं इसपर कुछ निगाह रखना चाहिए। यह जीवन विषयोंमें गमानेके लिए या विषयोंका मौज लेनेके लिए नहीं है। यह जीवन तो इसलिए है कि कोई ऐसा धार्मिक प्रोग्राम बना लें कि सदाके लिए संसारके संकट मिट जायें।

अपना बड़प्पन—भैया! अपना बड़प्पन इसी बातमें है, हम आपने जो कुछ पुण्योदयसे बड़प्पन पाया है तो इसका सच्चा उपयोग यही है ऐसा ज्ञान, ऐसा धर्मभाव पा लें कि कर्म छूट जायें, संसारके संकट, जन्म मरण सदाके लिए छूट जायें, ऐसा उपाय बना लेनेका काम इस जीवनमें मुख्यतया हुआ है। अन्य सब बातें गौण हैं। बहुत वैभव बढ़ गया तो जीवको क्या मिलेगा? कुछ अपने अन्तः सोचें, जितना भी ज्ञान बन सकेगा आत्माकी दृष्टि कर सकेंगे, ऐसे अलौकिक तत्वमें तृप्त हो सकेंगे जिसके लिए तीर्थकरोने, चक्रवर्तियोंने छह खण्डका वैभव त्यागकर और निग्रन्थ दिगम्बर आवस्थामें वनविहार करते रहें, अपने आपमें प्रसन्न रहे, वह तत्व मिले, वह दृष्टि आये, तो अपनेको मिलेगा अपनेमें अनुपम वैभव। यह काम पड़ा है हम आपको करनेके लिए, वैभव जोड़नेका काम नहीं पड़ा हुआ है। जैसे आजका युग केवल एक वैभवका युग है, भौतिकवाद है। पुद्गलकी बाढ़में सभीने होड़ लगा रखी है, प्रायः सभी मनुष्य ऐसा ही कर रहे हैं, उनको निरखकर तृष्णा उत्पन्न हो जाती है, मगर किसीकी तृष्णा में न चलना क्योंकि लोग क्या हैं? किसीने कुछ कहा तो कोई अपना प्रभु तो नहीं है। अपनेपर तो जो बीतती है वह खुदको ही भोगना पड़ता है, कोई दूसरा मददगार नहीं है। तब ऐसा विवेक बनाना है कि हम अपने उस सहज परमात्मास्वरूपके दर्शन कर सकें और वहाँ ही तृप्त रह सकें। शान्तिका उपाय जगतमें और कुछ न मिलेगा। केवल एक ही उपाय है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र। ऋषि संतोंने जो बातें कहीं हैं उन शब्दोंको चाहे कुछ समझना कठिन हो, लेकिन तत्व उनकी बातोंमें पूरा भरा हुआ है। अनुभूत प्रयोग है। कैसे जीवको शान्ति मिले? उसका उपाय जो रत्न त्रयका मार्ग बताया है वह पूर्णतया युक्तिसंगत है।

सम्यक् प्रतिबोधका प्रकाश—संसारके संकटोंसे छूटनेके लिए अभी उपाय बनाना है सम्यक्त्व का। सम्यक्त्वमें क्या होता है? मिथ्यात्व छूट गया, बाह्य वस्तुओंकी ममता मिट गई, किसी वस्तुसे अपना हित माननेकी कुबुद्धि खत्म हो गयी। तो ममता मिटाना, मोह मिटाना यह तो एक काम पड़ा है, पर लोग विपरीत कार्य कर रहे हैं। मोहके कारण ही तो दुःखी होते हैं और उस दुःखको दूर करनेका उपाय मोह करना सूझ रहा है, तो बताओ इस मोहके उपायसे यह संकट मिटेगा कैसे? इस मोहको छोड़ना है। मोह छोड़नेका अर्थ यह है कि सत्य बात समझ लेना है कि किसी भी पदार्थका कोई अन्य पदार्थ कुछ नहीं है। देखिए आज अपनी बंधनकी स्थिति है, शरीरमें बंधे हुए हैं। क्षुधा तृषा आदिक अनेक रोगोंमें पड़े हुए हैं ऐसी स्थितिमें यह बात न बनाई जा सकेगी कि हम घरमें रहते हुए कोई आजीविकाका साधन न बनायें। अरे मुनि हो जानेपर भी कुछ चार्य विधि द्वारा आखिर उनको अपने जीवनको रखना पड़ता है। तो गृहस्थ रहकर उन्हें अपना जीवन रखनेके लिए अजीविकाका कार्य करना पड़ेगा। अजीविकाका साधन बनायें, पर तत्व सही समझते रहें कि मेरे करनेसे कुछ नहीं हो रहा। पूर्वभवके पुण्यका उदय है तब ऐसा समागम मिल रहा है। भाव अच्छे किए थे उसका यह फल पाया जा रहा है। यदि आज भाव बिगाड़ लिया, मोह ममताका भाव करके अपने आत्मास्वभावका घात कर लिया तो इसका फल अच्छा नहीं

है। काम पड़ा है इस मोहके तोड़ने का। वह मोह कैसे मिटे? लोग इस जानकारीमें भी व्याकुल हैं, लेकिन ऐसा निर्णय कर लो कि हमें मोह मिटाना है। मोहके मिटे बिना शान्ति न मिल सकेगी।

मोहविनाशक उपाय—अब यह उलझन सामने आती है कि आखिर वह मोह मिटेगा कैसे? अनेक उपाय रचे जाते हैं। घर छोड़कर चल दिया, रूठकर घरसे चल दिए, इतनेपर भी सफल नहीं हो पाते। तो इस गाथामें वही एक औषधि बतायी गई है कि जिसके पान करनेसे यह मोह संकट मिट जाएगा। और औषधि ज्ञानरूप है और उसका पान भी ज्ञानोपयोगसे किया जाता है। इस गाथामें यह बताया है कि प्रत्येक पदार्थ अपने ही स्वरूप में रहता हुआ कार्य करता है, पर इस बातको प्रत्येक बातमें घटाते जाइये प्रत्येक पदार्थ, एक-एक अणु, एक-एक जीव सभी पदार्थ अपने ही स्वरूपमें रहते हैं और अपने ही स्वरूपमें रहकर अपना कार्य करते जाते हैं। तो अब यहाँ यह जानना है कि अपना स्वरूप है क्या जिसमें रहकर पदार्थ अपना कार्य करता है? दूसरी बात यह जाननी है कि वह अपना कार्य है कि जो पदार्थका खुदका कार्य बताया जा रहा है? तो इन दोनों बातोंको समझनेके लिए पहले एक मोटा लौकिक दृष्टान्त लो, फिर पारमार्थिक बात कही जाएगी। जैसे एक यह घड़ी है तो यह घड़ी घड़ीके अवयवोंमें है या चौकी आदिके अवयवोंमें है? चौकीमें घड़ी है या घड़ीमें घड़ी है? सीधा उत्तर यह है घड़ी घड़ीमें है, पुस्तक, चौकी, खम्भा आदिक मे नहीं है। तो यही है घड़ीका स्वरूप कि जिसमें यह घड़ी रह रही है। हम हम हीमें है, हम किसी दूसरेमें नहीं है। हम जो ज्ञानानन्दस्वरूप जीवतत्त्व हैं सो देहमें नहीं, कुटुम्बमें नहीं, कहीं देश विदेशमें नहीं, कहीं भी बाहरमें नहीं। मैं स्वयं अपने आपके स्वरूपमें हूँ। प्रत्येक पदार्थ अपने अपने स्वरूपमें रहते हैं। बात यदि ध्यानपूर्वक आप लोग सुनेंगे तो कुछ भी कठनाई न आएगी, किन्तु मनको अगर ढीला कर दिया, अपने उपयोगोंको थोड़ा भी इधर उधर किया तो यह बात समझना कठिन हो जाएगा। बात सीधी-सी है कि प्रत्येक पदार्थ अपने अपने स्वरूपमें है। मैं अपने ज्ञानानन्दस्वरूपमें हूँ। परमाणु अपने रूप, रस, गंध, स्पर्शस्वरूप हैं। जैसे कि ये दिखने वाले पदार्थ अपने अपने ही हिस्सेमें हैं, दूसरे प्रदेशमें नहीं हैं, तो यों ही सारे पदार्थ अपने स्वरूपमें रहते हैं।

पदार्थका स्वरूपचतुष्टय—अब उस स्वरूपका ब्योरा सुनो, जिस निज-निज स्वरूपमें पदार्थ अवस्थित हैं उस स्वरूपकी पहिचान होती है चार उपयों से। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। द्रव्य तो हुआ पिण्ड। जैसे घड़ीका द्रव्य क्या है? यह, जिसको हाथमें ले सकते, दूसरोंको बता सकते, जिसका उपयोग किया जा रहा, ऐसा जो यह पिण्ड है यह तो कहलाता है घड़ीद्रव्य, और यह घड़ी जितनी जगहमें फैली हुई है वह कहलाया घड़ीके प्रदेश, क्षेत्र। और घड़ीकी इस समय जो हालत है, नई, पुरानी, कमजोर आदि जैसे रूप, रस, गंध, स्पर्श है वह है घड़ीका काल याने परिणामन, और घड़ीमें जो भक्ति है वह है घड़ीका भाव। हर एक वस्तु में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव होता है। यह बात एक जैन शासनकी एक मौलिक ढंगसे कही जा रही है। यों ऊपरी बातें बहुत सी सुन लेनेसे काम आज तक नहीं निकल पाया, वह तत्व नहीं दिख पाया कि जिसके दिखनेपर मोह मिट ही जाता है।

निर्माह होकर जीवन बितानेका विवेक—एक बात इस प्रसंगमें और भी समझें कि मोह और रागमें फर्क है। गृहस्थोंका राग बिना घरमें रहना नहीं बन सकता। नहीं है राग तो घरमें रहेंगे कैसे? पर मोहके बिना भी घरमें रहना बन सकता है। किसी गृहस्थके मोह न हों, फिर भी परिस्थिति है ऐसी कि घरमें रहना पड़ता है और सबसे राग करना पड़ता है, घरमें रहना राग बिना न बनेगा। पर मोह बिना घरमें रहना बन सकेगा। रागमें तो है साधारण आकुलता, पर मोहमें है तीव्र आकुलता। इसलिए एक बात ठान लीजिए कि हमें मोह न करके ही घरमें रहना है,

राग बिना तो जीवन न चलेगा घरमें इसलिए सबसे प्रेमका व्यवहार होना ही पड़ेगा लेकिन मोह न करें ऐसा हमारा काम घरमें रहकर भी बन सकता है। मोहका अर्थ है अज्ञान। एक पदार्थ दूसरे पदार्थका वास्तवमें कुछ है, इस प्रकारका जो विश्वास है उसको मोह कहते हैं। मोहका अर्थ है बेहोशी, अपने स्वरूपका जहाँ होश नहीं, वह है मोह। जैसे यह पुत्र मेरा ही तो है, अब अपनेमें और पुत्रमें भेद न समझ सके यह न्यारा जीव है, मैं न्यारा जीव हूँ, इसके कर्म न्यारे है मेरे कर्म न्यारे हैं, इसका पुण्य पाप इसमें है मेरा पुण्य पाप मेरेमें है, यह भेद नहीं कुछ परखा जा सकता और एक दम अज्ञान समाया है, मेरा ही तो घर है, मेरा ही तो पुत्र है, मेरी ही तो स्त्री है। यही तो कहलाता है मोह, और तत्वज्ञान हो जाए जिसका कि वर्णन इस गाथामें किया जा रहा है उस विधिसे वास्तविकताका बोध हो जाए कि ये जीव मेरेसे न्यारे हैं, मैं जीव न्यारा हूँ, अत्यन्ताभाव है मेरा इनमें और इनका मुझमें। तो इसे कहेंगे कि मोह मिट गया। अब शारीरिक स्थिति ऐसी है कि आप निर्ग्रन्थ दिगम्बर नहीं बन सकते, तपश्चरण परीषह नहीं सह सकते, कोई शारीरिक रोग हो जाए तो उसकी वेदना सहनी पड़ती है, ऐसी स्थितियाँ हैं तो आपको घरमें रहना पड़ता है, तो घरमें रहना अपना व्यवहार सबके प्रति प्रेमका रखना होगा तभी शान्तिसे निर्वाह चलेगा, एक दूसरेके सुख दुःखमें सहयोगी होना होगा तब तो बात निभेगी। करना पड़ता है, करते हैं, पर उस समय मोह न हो। और अगर घरमें राग करके रहें तब तो गृहस्थ धर्म नहीं बिगड़ता, पर मोह रहे गृहस्थीमें तब तो अपना कुछ बिगड़ता ही है।

मेरा मेरे ही द्रव्यमें अस्तित्व—बात यहाँ यह बतला रहे हैं कि मोह न रहे ऐसा कौन सा उपाय करें? तो उस उपायको थोड़ा समझनेमें और उसको चित्तमें रखनेमें कठिनाई लगेगी, किन्तु जिन्होंने अभ्यास किया है उनको कुछ भी कठिनाई नहीं है। एक हिम्मत बनाकर बाहरकी बातोंको चित्तसे हटाकर, क्योंकि जब सब आसार है दुःखके हेतू भूत हैं तो उनमें चित्तको क्या फंसाना? वहाँसे चित्त हटाकर खूब ध्यानपूर्वक इस प्रकरणको सुनो तो इस चीज़का भान होगा, वह तत्त्व मिलेगा कि जिसके परिचय जन्म-मरणका संकट टलेगा। यहाँ बतला रहें हैं कि प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमें हैं, इसका अर्थ है कि दूसरेके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे नहीं है। बस इसका ही विवरणपूर्वक परिज्ञान बन जाए तो वहाँ मोहको रहनेके लिए स्थान न मिलेगा। मैं अपने द्रव्यमें हूँ, अपने क्षेत्रमें हूँ, अपने ही कालमें हूँ और अपने ही भाव में हूँ। मैं किसी दूसरे जीवके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे नहीं हूँ, इसका अर्थ क्या? मेरा द्रव्य क्या है? जो मुझमें गुण है, जो मेरेमें शक्तियाँ हैं, ज्ञान आनन्द आदिक जितनी भी शक्तियाँ हैं, गुण हैं, स्वभाव हैं, विशेषतायें हैं उनमें मैं हूँ दूसरोंकी विशेषताओं में मैं नहीं हूँ, दूसरोंकी गुण पर्यायोंमें मैं नहीं हूँ, मैं अपने ही द्रव्यस्वरूपमें हूँ। अब देखिए घरमें जो २ ४ १० कुटुम्बी जन हैं उनका जीव और दुनिया में पड़ोस में, परदेश में, विदेश में, जो अनेक मनुष्योंके जीव हैं वे जीव, उन सब जीवोंका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मुझमें नहीं हैं। इस दृष्टिसे जितने न्यारे विदेशके परदेशके मनुष्य हैं उतने ही न्यारे अपने घरके जीव (कुटुम्बीजन) हैं। कोई कहे कि विदेश में रहने वाले मनुष्योंमें तो हमारे घरके जीवोंका हमसे कुछ सम्बंध होगा, पर रंच भी सम्बंध नहीं है। वे कल्पनासे सम्बंध मानते हैं और अपने प्रयोजनसे खुदगर्जीसे सम्बंध मानते हैं, पदार्थ में, तो पदार्थकी बात पदार्थके ढंगसे रहेगी, हम हम कुछ कल्पनायें करें उनके अनुसार पदार्थ बन जाये सो नहीं हो सकता। तो मैं अपने द्रव्यसे हूँ, अपने गुण पर्यायमें हूँ, जो मुझमें शक्तियाँ हैं, जिनसे मैं रचा गया हूँ, जो कुछ भी मुझमें पाया जा रहा है उनमें ही मैं हूँ, दूसरेमें मैं नहीं हूँ।

मेरा मेरे ही निज अन्तः क्षेत्रमें अस्तित्व—क्षेत्रकी बात सुनो। मैं हूँ और फैला हुआ हूँ, अनुभव भी होता

है कि मैं इतना बड़ा हूँ। पैरोंसे लेकर शिर तक इतनी जगह फैला हुआ हूँ। सुख होता है तो इतने प्रदेशोंमें होता है, दुःख होता है, आकार ज्ञान होता है तो इतने प्रदेशों में, अनुभव होता है तो इतने प्रदेशोंमें फैला हुआ हूँ। देह मैं नहीं हूँ। देहके प्रदेश मेरे प्रदेशोंमें एकक्षेत्रावगाह है, पर मैं देहके देशमें नहीं हूँ किन्तु अपने ही निज प्रदेशोंमें हूँ। किसी दूसरे जीवके प्रदेश में नहीं हूँ, जब कोई बात दुःख-दर्दकी आती है तो हम अपने ही प्रदेशमें अनुभव करते हैं, कुटुम्बीजनोंके (परिजनोंके) प्रदेशमें अनुभव नहीं करते। तो जब मैं अपने ही प्रदेश में हूँ, दूसरे जीवोंके प्रदेश में नहीं हूँ तो मेरा और दूसरे जीवका क्या सम्बंध? केवल कल्पनासे सम्बंध बनाया। और, देखिए कल्पनासे जो ये सम्बंध बनाया है इसका तत्काल इतना प्रभाव पड़ गया है कि ये जीव चाहता है कि मैं खूब परिश्रम करके अपना आराम तज करके, आकुल-व्याकुल होकर के खूब ऐसा धन वैभव कमा जाऊँ कि ये बाल-बच्चे कभी भी हैरान न हों। तो अब देखिए उन परजीवोंका ख्याल करके अपने जीवनको कष्टमय बना रहे हैं पहिली बात तो यह है। दूसरी बात यह है कि क्या ये आपके अधिकारकी बात है कि वैभव कमा लें? यह आपके अधिकारकी बात नहीं है। शुभभाव किया, पुण्यबंध हुआ, उसका उदय है तो ये सब समागम मिल रहे हैं। तीसरी बात क्या यह आपके वशकी बात है कि ये कभी हैरान नहीं होंगे। कितना ही धन वैभव जोड़कर चले जायें, अगर उनका पुण्योदय नहीं है, पापका उदय है तो साल दो सालमें ही सारा धन खत्म हो जाएगा, निर्धनता आ जाएगी, और अगर आप कुछ भी छोड़कर न जायें, ज्यों की त्यों साधारण स्थिति रहे, यदि पुण्यका उदय हो तो एक वर्ष में ही वे कुछसे कुछ बन जायेंगे। अगर उनके पुण्यका उदय है तो वैभव छोड़कर जानेका क्या प्रयोजन और अगर उनके पापका उदय है तो वैभव छोड़कर जानेका क्या प्रयोजन? अपने आपमें कुछ विवेक करना है और भीतरमें जो अलौकिक निधि बसी हुई है उस परमात्मस्वरूपकी निधिका दर्शन करना है। और जीवनमें कोई अलौकिक लाभ लेना है यह निर्णय बनाइए जीवन में। इसी प्रयोजनकी पूर्तिके लिए यह भेद विज्ञानकी बात कही जा रही है। मैं अपने क्षेत्रमें हूँ, दूसरे जीवोंके क्षेत्रमें नहीं हूँ।

मेरा मेरे ही कालभावमें अस्तित्व तीसरी बात है कालकी। मैं अपने कालमें हूँ दूसरेके कालमें नहीं हूँ। कालके मायने हैं परिणामन। जो मुझमें परिणति होती है, जो बात गुजरती है, सुख, दुःख, ज्ञान आदिक जो कुछ यहाँ बना रहे हैं वह है मेरा काल। कषायें की जा रहीं हों वह है मेरा काल। कालके मायने परिणामन, अवस्था, दशा। तो मैं अपने कालसे हूँ, दूसरेके कालसे नहीं हूँ। जो मुझमें परिणामन है, उसमें मैं ही हूँ, दूसरेके परिणामनमें नहीं हूँ। अपने सुख दुःखमें मैं हूँ, दूसरेके सुख-दुःखमें मैं नहीं हूँ। हो ही नहीं सकता कोई किसीके परिणामन रूप। वस्तु है वह अपनेमें बनेगी, दूसरोंमें क्या बनेगी? तो मैं अपने काल में हूँ इन कुटुम्बियों काल में, समय में, परिणामनमें मैं नहीं हूँ। जहाँ यह स्पष्ट दर्शन हो वहाँ मोह नहीं ठहर सकता। अब भावकी बात देखिए मैं अपने भावसे हूँ। भावके मायने गुण। जो सदा काल रहे ऐसा स्वरूप। मेरा सहज ज्ञान सदा रहता है। ज्ञान कभी मिटता नहीं, मेरा आनन्द स्वरूप स्वभाव सदा रहता है, वह मिटेगा नहीं। चाहे दुःख बने या सुख बने या आनन्द बने, पर जो गुण हैं मुझमें वो सदा काल रहते हैं। तो मैं मेरे गुणोंमें हूँ, दूसरोंके गुणों में नहीं हूँ। दूसरे जीवोंके ज्ञान, आनन्द, शक्ति, गुण, उनके उनमें हैं, मेरे मेरेमें हैं।

भ्रमके हटनेपर व्याकुलताका विनाश अब बतलाओ कि मेरा किसी दूसरे जीवके या किसी वैभवके साथ क्या सम्बंध है? अत्यन्त भाव है, ऐसा जहाँ परिचय हो जाता है वहाँ मोह नहीं ठहरता। वहाँ भीतर व्याकुलता नहीं रहती, शान्ति हो जाती है। क्योंकि मुझमें जो भ्रमके कारण व्याकुलता बनी थी, वह भ्रम मिटा कि व्याकुलता

नष्ट हो जाएगी। जैसे घरमें छोटी पड़ी हुई रस्सीको देखकर यह भ्रम हो जाए कि यह साँप है तो उस भ्रममें तो कितनी आकुलता मच जाती है। लेकिन थोड़ा साहस करके कुछ निकट जाकर सही परिचय पा लिया कि अरे यह तो कोरी रस्सी पड़ी है, कहां साँप है? तो इस सही ज्ञान होनेके कारण भ्रम मिट गया और उस भ्रमसे उत्पन्न हुआ दुःख दूर हो गया। तो ऐसा ही समझिए कि जब तक परको निज समझनेका भ्रम लगा है तब तक आकुलता है और जब निजको निज परको पर जान लिया तो फिर वहां किसी भी प्रकारके संकट नहीं ठहरते। अब रहा थोड़ा रागका दुःख तो वह भी इस तत्त्वज्ञानके बलपर मिटा लिया जाएगा।

स-सरूवत्थो जीवो अण्ण-सरूवम्मि गच्छदे जदि हि।

अण्णोण्ण-मेलणादो एक्क-सरूवं हवे सव्वं ॥ २३३ ॥

स्वस्वरूपस्थ जीवका अन्यस्वरूपमें पहुँचना माननेपर अन्योन्य मेलन होनेसे एक स्वरूपताका प्रसङ्ग—इससे पहले कि गाथा में बताया था कि यह जीव अपने स्वरूपमें रहता हुआ ही अपने कार्यको करता है। जीव अपने ही गुण पर्याय में हैं, अपनी ही शक्तिमें हैं, अपनेमें ही अपना परिणामन कर रहा है। इस तरह जीवद्रव्यकी व्यवस्था है और जीवकी ही क्या, सभी पदार्थोंकी ऐसी ही व्यवस्था है कि वह अपनेमें रहते हुए अपने कार्यको करते हैं। अब इस गाथामें बतला रहे हैं कि अपने स्वरूप में स्थित वह जीव यदि दूसरेके स्वरूपमें भी चला जाए तो इन दोनोंका परस्पर मेल हो जाएगा, जैसे जीव अपने द्रव्य, छेत्र, काल, भावमें है, अपनी जगहमें है, अपने स्वरूपमें है, इसी तरह यह जीव देहके स्वरूपमें बन जाए या अन्य अचेतन चेतनके स्वरूपमें बन जाए तो अब यह जीव न रहा। दूसरेका स्वरूप भी अपना लिया तो दूसरा बन गया। चेतनने अचेतनका स्वरूप अपना लिया तो वह अचेतन हो जाएगा। तो जब अन्य पुद्गल आदिके स्वरूप में यह जीव पहुँच गया तो सभी द्रव्य एकस्वरूप क्या हो गए? कुछ भी न रहा। इस कारण यह ही श्रद्धा न करें कि प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपमें रहता हुआ ही अपना उत्पाद व्यय करता रहता है।

स्वस्वरूपस्थ वस्तुका अपना ही पर्याय स्वरूपसे उत्पादव्ययके याथातथ्यके अवगममें सन्मार्गदर्शन—इस लोकमें वैभव ठाठ मिलना या दरिद्रता मिलना यह जीवके भावोंपर निर्भर हैं। जीवने शुभभाव किया, पूजा, दान, पुण्य, व्रत आदिक परिणाम किया, उससे पुण्यकर्मका बन्ध हुआ, उसके उदयमें अब नाना विभूतियाँ मिलीं, उस विभूतिके कमानेके लिए आजकी आपकी बुद्धिका कोई अधिकार नहीं है। यह सब पुण्य भावका फल है। तो जैसे शुभ अशुभ भावोंके द्वारा जीव संसारकी विचित्र अवस्थाओंको रच लेता है इसी प्रकार जीव यदि शुद्ध परिणामोंमें आ जाए, वस्तुका जैसा स्वतंत्र स्वरूप है उस तरह ध्यानमें लें, मोहक विनाश करें तो इस जीवको मुक्ति भी प्राप्त हो सकती है। तो सब कुछ हमारा हमारे भावोंपर निर्भर है। हमारी असली कमाई हमारे भावोंपर निर्भर है। बाहरी संभाल कोई असली संभाल नहीं है। बाहरमें कुछ आये तो आये, जाये तो जाये, किसी भी अवस्थाको प्राप्त हो, उससे जीवका सुधार बिगड़ नहीं सकता। जीवका सुधार बिगाड़ अज्ञान और ज्ञानसे है। तो उसकी तत्त्व ज्ञानकी बात कह रहे हैं कि यों निरखोकी प्रत्येक पदार्थ अपने ही स्वरूपमें है, दूसरेके स्वरूपमें न था, न है और न कभी हो सकेगा। ऐसा निरखनेसे यथार्थ ज्ञान प्रकाश मिलेगा, मोहादिक मिथ्या भावोंका विनाश होगा। इस ही स्थितिमें जीवका महत्त्व है? अलौकिक बड़प्पन है। सब कुछ जीवका एक यही वैभव है कि वह अपने अमूर्त ज्ञानस्वभावकी दृष्टिमें उपयुक्त रहे।

अहवा बंभ-सरुवं एक्कं सव्वं पि मण्णदे जदि हि।

चंडाल-वंभणाणं तो ण विसेसो हवे को वि ॥ २३४ ॥

सर्वपदार्थोंको एक ब्रह्मस्वरूप ही माननेमें विडम्बना—जीवके सम्बंधमें कुछ दार्शनिकोंका यह ख्याल है कि अन्य क्या है, जगतमें सबकुछ एक ब्रह्म ही है। चेतन अचेतन जितने भी पदार्थ हैं सभी पदार्थ ब्रह्मस्वरूपी हैं। ब्रह्मको एक चैतन्यस्वरूपके ढंगसे मानते हैं और सारे ही पदार्थको ब्रह्मकी पर्याय कहा करते हैं, तो ऐसे दार्शनिक जो मानते हैं कि सब कुछ एक ब्रह्मस्वरूपी ही है सो उनके सिद्धान्तमें चण्डाल और ब्रह्मणका कोई भेद सिद्ध नहीं होता और यह तो एक रूढ़ी वाली आपत्ति पेशकी है। वस्तुतः किन्हीं भी पदार्थोंमें कोई भेद सिद्ध न होगा। चेतन और अचेतन ये कैसा भिन्न है, क्यों भिन्न है, जब एक ब्रह्मस्वरूप ही है तो यह भेद कहाँसे आया? प्रकृतमें यह बतला रहे हैं कि यदि यह सिद्धान्त माना जाए जैसे कि उन दार्शनिकोंकी श्रुतिमें कहा है कि एक ही आत्मा अद्वित्य ब्रह्म है, ये नाना कुछ नहीं हैं। जो कुछ यहां नाना दिख रहे हैं वे सब ब्रह्मकी पर्याय हैं। ऐसी श्रुतिके अनुसार जो लोग ये आग्रह करते हैं कि सबकुछ एक ब्रह्म ही है, भिन्न कुछ नहीं, स्वभाव भेद कुछ नहीं, तो वहां पूछा जा रहा है कि यह बतलाओ कि चाण्डाल और ब्रह्मणमें कोई भेद फिर तो न रहेगा न? यदि चाण्डाल भी ब्रह्ममय है और ब्रह्मण भी ब्रह्ममय है किसी भी दृष्टिसे कुछ भी अन्तर नहीं तो फिर उनमें भेद कैसे रहेगा? यदि कहो कि यह सब अविद्यासे माना गया भेद है और चाण्डाल, ब्रह्मणकी बात यदि दृष्टान्तमें अधिक नहीं लेना चाहते तो स्पष्ट अनेक पदार्थ पड़े तो हैं। ये अचेतन हैं, ये चेतन हैं अथवा ये पशु हैं, यह मनुष्य हैं ऐसा भेद भी कैसे सिद्ध होगा? यदि कहो कि अविद्यासे यह भेद कल्पित हुआ है तो फिर उसकी अविद्याको बताओ कि वह अविद्या उस ब्रह्मस्वरूपसे भिन्न है या अभिन्न? ये अविद्या अलगसे क्या चीज़ बनी? यदि कहो कि अविद्या ब्रह्मसे अभिन्न है तो भेद न रहना चाहिए। यदि कहो कि भिन्न है तो अद्वैत कहाँ रहा? ब्रह्म भी एक पदार्थ है और अविद्या भी एक पदार्थ बन गया। तो यूँ यह भी न कहा जा सकेगा कि सर्व कुछ एक ब्रह्म है।

वस्तुव्यवस्थाकी सही परखसे क्षोभका अभाव—वस्तुव्यवस्था यों है कि पदार्थ उतना है कि एक-एक परिणामन जितनेमें पूरेमें हो रहा है। जैसे हमारा विचार हम ही में चलता तो हम एक जीव अलग हैं अन्य सर्व से। दूसरोंके विचार उनमें ही चलते हैं। पत्येक पदार्थका परिणामन उस ही एकमें होता है, इसी कारण सिद्ध है कि पदार्थ नाना हैं। स्पष्ट बात है। अब उन पदार्थोंकी सदृशता जब दृष्टिमें लेते हैं तो जातियाँ बनती हैं और इस आधारपर एक जीव जाति कहलायी जिसमें कि चैतन्य स्वरूपात्मक पदार्थोंका संग्रह किया जाए। एक पुद्गल जाति बनी जिसमें कि रूप, रस, गंध, स्पर्श वाले पदार्थोंका संग्रह किया। यों जाति अपेक्षा एकता मानी गई है और इसी तरह सभी पदार्थोंको एक सत् शब्दसे कह दिया जाए। हैं, सब अस्तित्व हैं तो उस सत्त्व मात्रकी अपेक्षा कह दिया जाए तो यह भी युक्ति सिद्ध है, संग्रहनयका विषय है, लेकिन कोई सर्वथा यह माने कि दूसरा कुछ है ही नहीं, सब कुछ केवल एक ही है, उसे ब्रह्म या किसी भी नामसे कहा, तो ऐसी एक वस्तु होना प्रमाण सिद्ध नहीं है। जीव नाना हैं, सबके अपने अपने परिणामन हैं, विचार हैं, इसीसे तो कभी क्षोभ नहीं अपने चित्तमें लाना चाहिए कि इनपर तो हम बड़ा विश्वास रखते थे, ये मेरे पुत्र हैं, ये मेरे मित्र हैं, इन लोगोंसे हम बहुत आशा रखते थे कि ये मेरे खिलाफ न चलेंगे, पर मेरेसे खिलाफ हो गए...यों सोच साचकर तो दुःखी ही होते हैं। अरे किसी भी परवस्तु (परजीव)पर आपका कोई अधिकार नहीं। स्वतंत्र सत्त्व हैं, उसका परिणामन उसमें है जिस प्रकार से भी हैं। जब भी आपकी बात मानते थे पुत्र या मित्र तब भी आपकी बात नहीं मान रहे थे, किन्तु उनका खुदका विचार ऐसा

था कि मैं इस तरहसे चलूंगा तो सुख शान्तिसे रहूंगा। तो अपने ही विचारके कारण वे आपके अनुकूल चल रहे थे। कहीं आपकी सत्ताके कारण वे आपकी बात नहीं मान रहे थे। तो सभी जीव स्वतंत्र हैं, उनका परिणामन उनमें है। ऐसा जाननेपर क्षोभका अभाव हो जाता है, मोह दूर हो जाता है।

**अणु-परिमाणं तच्च अंस-विहीणं च मण्णदे जदि हि ।
तो संबन्ध-अभावो तत्तो वि ण कज्ज-संसिद्धि ॥ २३५॥**

जीवको अंशविहीन अणुपरिमाण माननेपर कार्यसिद्धिका अभाव अब कोई दार्शनिक कहते हैं कि आपने इसमें बाधा दी कि इसमें कोई एक व्यापक द्रव्य नहीं है, वह तो कल्पित है। सो ऐसा यदि नहीं है तब तो यह मान लीजिए कि तत्त्व अणु रूप होगा, जीव अणु मात्र है, जैसे लोग ख्याल करते हैं कि जीव इतने बड़े शरीरमें व्यापक है, इतना विशाल है सो नहीं है विशाल। विशाल तो अभी माना ही नहीं गया, ऐसा विशाल मानते ही कि सारी दुनियामें एक जीव है तो जब वह विशाल न रहा तो इतना भी विशाल मत मानो कि देह प्रमाण है और मानो कि एक प्रमाण बराबर, बट बीज जैसा छोटा एक जीव होता है, इस सारे शरीरके किसी भी कोनेमें यह अणु मात्र जीव पड़ा है। इसके उत्तरमें कहते हैं यदि तत्त्वको अणु प्रमाण माना जाए, अंशरहित, परदेश रहित माना जाए तब फिर सम्बंधका अभाव हो जाएगा। जैसे एक शरीरमें एक अणु बराबर जीव मान लिया तो वह तो अणु परिमाण हो गया, बड़ा न रहा, उसके अवयव न रहे। तो जब यह अणु परिमाण है तो उसका अन्य जगह सम्बंध ही न बनेगा। जैसे जीव एक अंगुलीके अखिरी हिस्सेमें पड़ा है, सारे शरीरमें सम्बंध न रहे, तब तो किसी शरीरके एक अंगमें फोड़ा फुंसी हो जानेपर उस जीवको वेदनाका अनुभव न होना चाहिए। तो अणु प्रमाण जीव है यह तत्त्व भी सही नहीं हो सकता। तब समस्त शरीरके साथ सम्बंध न रहा जीव का, क्योंकि वह तो अणु परिमाण है। किसी जगह पड़ा है। तो सर्व अङ्गोंमें होने वाले सुख दुःखका अनुभव न हो सकेगा। जैसे बाहरमें कोई चीज़ पड़ी है तब अनुभव आत्माको अपना नहीं होता, ऐसे ही शरीरमें भी किसी जगह कुछ बीते, जब वहां सब जगह आत्मा नहीं है, कहीं एक जगह पड़ा है, फिर उसका ज्ञान न होना चाहिए। और, जब उसका ज्ञान न होगा तो सुख-दुःख दुण्य पाप, लोक परलोक, जीवन मरण आदि ये भी न बन सकेंगे। वे तो शुद्ध रह जायेंगे। और, शुद्ध द्रव्यका विभाव क्या, विकार क्या? फिर ये विषमतायें न बनेंगी।

प्रत्येक जीवकी अखण्डता व अनेकप्रदेशिता उक्त विश्लेषणसे सिद्ध होता है कि जीव एक होकर भी अनेक प्रदेशी है, अखण्डप्रदेशी है। अखण्ड है इसलिए तो एक है, वे सब एक हैं। इन पुद्गलोंकी भाँति कहीं चीर फाड़ करके अलग-अलग टुकड़ोंमें इस जीवको नहीं बांटा जा सकता, क्योंकि ये चीज़ें जो दिख रही हैं वे वास्तवमें एक नहीं हैं, अनन्त परमाणुओंका समूहरूप है, और यत्न करके यह किया गया कि कुछ परमाणु एक तरफ पड़ गये, कुछ परमाणु एक तरफ। एकका आधा नहीं बन सकता। जो वास्तवमें एक है उसका आधा क्या किया जाएगा? जैसे एक मोटी बात उदाहरणमें ले लो एक रुपयाका आधा क्या? आधा रुपया। तो उस आधे रुपयेका अर्थ है ५० नए पैसे। तो वह रुपया १०० पैसोंका समूह है तब आधा समझ लिया उसका। अब जैसे एक नए पैसेको उदाहरणमें लिया तो बताओ उसका आधा क्या? अथवा कोई ऐसा सिक्का उदाहरणमें ले लो जैसे कि पहिले दमड़ी छदाम आदि चलते थे, जिनके बाद फिर कोई अंश न हो, तो उस सिक्केका आधा नहीं किया जा सकता। जो वस्तु एक है उसके विभाग नहीं होते। यों यह मैं जीव इतना विशाल होकर जो इतने देहमें व्यापक हूँ उतनेपर भी मैं अखण्ड हूँ, उसके दो भाग नहीं हो सकते। इतनेपर भी विशालता है यह कैसे जाना जाएगा?

तो वह प्रदेशको देखकर जाना जाएगा। इतनेमें फैला है यह जीव। परदेशोंकी अपेक्षासे वह अनेक प्रदेशी है और अपनी अखण्डताकी अपेक्षासे प्रत्येक जीव प्रत्येक अणु एक-एक है। तो मानना होगा यह और अनुभव सिद्ध है यह कि मैं एक असंख्यात प्रदेशी होकर भी अखण्ड अपने स्वरूपमें रहता हूँ और अपने स्वरूपमें रहता हुआ अपना उत्पाद व्यय करता रहता हूँ। यह सब चर्चा अपने आपकी है। जैसे हमपर वस्तुओंका ज्ञान करते रहते हैं कि यह खम्भा है, यह चौकी है आदि, इसी तरह यदि हम अपने आपकी वस्तुका ज्ञान करने चलेंगे तो न होगा क्या? वह तो और असानीसे होगा, और स्पष्ट होगा, क्योंकि खुद ही आत्मा है, स्वयं ज्ञानस्वरूप है और खुदको ही जानने चला है और खुदके ही स्वरूपसे वह जान रहा है।

**सव्वाणं दव्वाणं दव्व-सरुवेण होदि एयत्तं।
णिय-णिय-गुण-भेएण हि सव्वाणि वि होति भिण्णाणि ॥ २३६ ॥**

सभी द्रव्योंका द्रव्यस्वरूपसे एकत्व और निज निज गुणभेदसे भिन्नत्व—सभी द्रव्य द्रव्यस्वरूपसे एक हैं, सभी पदार्थ सत् हैं, अपने गुण पर्यायमें व्याप्त हैं, इस दृष्टिसे चूँकि यह बात सबमें एकसमान पायी जाती है; अर्थात् कहीं विषमता नहीं है कि कोई पदार्थ अपना अस्तित्व रखता है और कोई नहीं रखता है। सब सत् हैं। उस सत्त्वकी दृष्टिसे सबमें एकता समझी जाती है, मगर अपने अपने गुण भेदसे सभी पदार्थ भिन्न-भिन्न हुआ करते हैं। सत् उसे कहते हैं जो अपने गुण पर्यायोंमें व्याप करके रहे उसीका ही नाम द्रव्य है। जो अपनी प्रयायोंको प्राप्त करता था, करता है, और करेगा, उसका नाम द्रव्य है। जो चीज है, जिसकी अनादिसे अवस्थाएं बन रही थीं। अब बन रहीं हैं और आगे बनती रहेंगी उसका नाम पदार्थ है, गुण है, वस्तु है ऐसे द्रव्य ६ जातिके हुआ करते हैं जीव, पद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। द्रव्योंका यथार्थस्वरूप ज्ञानमें आये तो यह बड़ा ऊँचा विवेक है, मोह तो इसी तत्त्वज्ञानसे दूर होगा, क्योंकि सर्वपदार्थोंका जब यथार्थ स्वरूप ज्ञान में आयेगा तो सब न्यारे-न्यारे जंचने लगेंगे। सभी पदार्थ अपने-अपने स्वरूपमें हैं। जब सभी पदार्थ न्यारे-न्यारे जंचने लगेंगे तो वहाँ मोह न ठहरेगा। मोह नाम है बेहोशी का। जहाँ पदार्थका परस्परमें स्वरूप मेल कर दिया वहाँ फिर मोहमें होश नहीं रहता। अपना होश यही है कि मैं समस्त परद्रव्योंसे निराला अमूर्त केवल ज्ञान मात्र हूँ ऐसी सुघ हो। ऐसी सुधमें मोह नहीं रहता। तो मोह मिटानेका अमोघ उपाय, जो उपाय व्यर्थ न जाए वह है भेदविज्ञान। और भेदविज्ञान करनेका साधन है वस्तुके निज-निज स्वरूपका परिज्ञान। तो उन सब निजस्वरूपके परिज्ञानके लिए यह सब शास्त्र पद्धतिमें वर्णन किया जा रहा है।

सर्व पदार्थों में साधारणगुणकी अपेक्षा अभेद—पदार्थ ६ जातिके हैं, जीव जिसमें चेतनता हो सो जीव। सिद्ध भगवान, अरहंत, निगोदिया जीव, मनुष्य, पशु-पक्षी आदिक ये सब जीव हैं और चेतनालक्षणकी दृष्टिसे वे सब एक जातिमें हैं। तो हैं सब एक जातिमें लेकिन परिणतियोंमें बड़ा अन्तर है। एक सिद्ध है, मायने जो आत्मा है, जैसा है एक केवल वही रह गया है, उसके साथ शरीर नहीं, विकार नहीं, वह तो केवल विशुद्ध ज्ञानानंद स्वरूपमें बसा हुआ है। और यहां ये संसारी जीव अपने उपयोगमें कितने ही पदार्थोंको लिए फिर रहे हैं, दुःखी हो रहे हैं, तो विडम्बनायें फँसे हुए इन जीवोंमें और केवल विशुद्ध सिद्ध भगवन्तमें कोई अन्तर नहीं है क्या? हाँ पर्याय दृष्टिसे इनमें अन्तर है, मगर मूलमें जो चेतन स्वभाव बसा हुआ है उसकी अपेक्षासे सब जीव एक समान कहे जाते हैं; जैसे घटादिक पर्यायों और रूपादिक गुणोंका समुदाय मोटे रूपसे एक है, उनमें ये सब रूप, रंग, गंध, स्पर्श वाले पदार्थ जैसे खम्भा, चौकी, दरी, आदिक ये सब पुद्गल स्वरूपकी दृष्टिसे एक हैं सभी पुद्गल हैं, सभी

रूपी हैं तो ये जैसी पुद्गलकी दृष्टिसे एक हैं इसी तरह जितने जीव हैं वे सब जीव चैतन्यकी दृष्टिसे एक हैं और फिर जितने भी द्रव्य हैं जीव हों, पुद्गल हों, सब एक सत्त्वकी दृष्टिसे एक हैं। द्रव्य तो हैं। द्रव्यमें जो बात होनी चाहिए द्रव्यके नातेसे वह सब बात सबमें हो रही है; अर्थात् सब हैं और निरन्तर परिणमते रहते हैं।

वस्तुका निजस्वरूप और सामान्यदृष्टिसे उसका परिचय—देखिए वस्तु स्वरूप यह समझना है कि प्रत्येक पदार्थ है और अपने स्वरूपसे अपना उत्पाद व्यय ध्रौव्य करता है, अपनी नई अवस्था बनाता है, अपनी पूर्व अवस्था विलीन करता है, ऐसा सभी द्रव्योंमें अपने आपके स्वरूपमें हो रहा है। भले ही जो विकार रूप परिणाम है वह किसी अन्य द्रव्यका निमित्त पाकर हो रहा है फिर भी अन्यका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव लेकर परिणमन नहीं होता। तो यों प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपमें हैं, अपनी उनकी गुण पर्यायें हैं। अब उनमें पर्यायदृष्टि से भेदव्यवहार है। गुणके भेदसे भेद किया जाता है। वैसे तो मूल धर्मकी अपेक्षा एक है। जीव किसे कहते हैं? जिसमें चैतन्य गुण पाया जाए, और अजीव पुद्गल जिनमें अचेतनता हो, रूप, रस, गंध, आदिक हों तो अब इन गुणोंके भेदसे ही वह भेद किया गया। जब गुण भेदपर दृष्टि करते हैं तो सभी पदार्थ भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं और जब उनको सत्त्वकी दृष्टिसे देखा तो सभीके सभी एक हैं। दूसरे क्या? यह सब अपेक्षाओंसे जाना गया है। जैसे पाँचों अंगुली अंगुलीकी दृष्टिसे एक हैं मगर इन सबमें स्वयं अपने अपने अलग-अलग गुण हैं इस कारणसे ये भिन्न-भिन्न हैं, जो बात बीचकी अंगुलीमें बन रही है वह अन्य अंगुलीयोंमें नहीं बन रही, तो इनका परिणाम न्यारा है। रूप, रस आदिक भी न्यारे-न्यारे हैं। तो जैसे ये गुण भेदसे भिन्न-भिन्न हैं, सारे द्रव्य गुण भेदसे भिन्न-भिन्न हैं पर सत्त्व द्रव्यत्वकी दृष्टिसे निरखा जाये तो सर्व कुछ वह एक सद्रूप प्रतीत होगा। देखिए जितना-जितना सामान्यकी ओर जायेंगे उतनी-उतनी एकता समझमें आयेगी और जितना जितना विशेषकी ओर दृष्टि जाएगी उतनी-उतनी भिन्नता समझ में आयेगी। जैसे सभी मनुष्योंको हम मनुष्यत्व संज्ञासे देखते हैं तो सभी मनुष्य एक हैं। किसीने यदि कहा कि मनुष्यको लाओ, तो चाहे बच्चा हो, बालक हो, जवान हो, बूढ़ा हो, किसीको भी वह ला सकता है। उसे डाटा नहीं जा सकता कि तुम बच्चा क्यों ले आये? और यदि कहा जाए कि कोई बलवान, जवान पुरुष लाओ, तब फिर कोई बच्चा, बालक या बूढ़ा व्यक्ति नहीं लाया जा सकता, अगर लाये तो उसे डाटा जा सकता है। तो सामान्यपर दृष्टि देनेपर तो कोई भिन्नता नहीं प्रतीत नहीं होती, वहाँ एकता है, पर विशेषपर दृष्टि देते हैं तो वहाँ भिन्नता प्रतीत होती है।

जो अत्यो पडिसमयं उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्त-सम्भावो ।

गुण-पञ्जय-पहिणामो सो संतो भण्णदे समए ॥ २३७ ॥

सत्का स्वरूप—सत् किसे कहते हैं? याने जो है उसका स्वरूप क्या है इसका वर्णन इस गाथामें किया गया है। जो पदार्थ प्रतिसमय उत्पाद व्ययका स्वभाव रख रहा है; अर्थात् प्रति समय नई अवस्थामें आता है और पुरानी अवस्था जिसकी विलीन होती है फिर भी जो वस्तु सदाकाल रहती है उसको कहते हैं सत्। जो है उसमें ये तीन बातें नियमसे होंगी कि वह नई पर्यायको बनाएगा और पुरानी पर्यायको मिटएगा और वह खुद बना रहेगा। देखिए जितने भी पदार्थ हैं सभीमें ये लक्षण हैं कि उसमें नई बात बनेगी और पुरानी बात खत्म होगी और वह चीज़ ज्योंकी त्यों बनी रहेगी। जैसे जीव हैं उसमें नई नई पर्यायें बनती हैं, पुरानी पर्यायें विलीन होती हैं, और उसका जो मूलभूत तत्व है वह निरन्तर रहा करता है। ऐसे ही पुद्गलमें रूप, रस आदि तो बदलते रहते हैं, जो स्वयं मूल प्रमाणु है उसका कभी नाश नहीं होता। जो गुण और पर्यायसे युक्त जो द्रव्य है उसको सत् कहा करते

हैं। अब प्रत्येक पदार्थ नई अवस्थाएं बनाता तो है पर अटपट न बनाएगा, अपनी जातिमें बनाएगा। जैसे मिट्टीसे जो कुछ बनाया जाएगा घड़ा, सकोरा, दीपक आदि वह सब मिट्टीमें ही होगा, कहीं अन्य धातु में न बन जाएगा, ऐसे ही जीवमें जो कुछ भी परिणामन होगा वह जीव रूप ही होगा, कहीं पुद्गल रूप न हो जाएगा। तो पूर्व पर्यायके नाश होनेका नाम उत्पाद है। जब अगलीपर्याय बनती है तो पूर्वपर्याय उसी समय नष्ट हो जाती है। जिस समय पूर्वपर्याय नष्ट हुई उसी समय नईपर्याय बनती है। अनादि पारिणामिक स्वभावसे देखा जाए तो वस्तु न नष्ट होती, न उत्पन्न होती किन्तु स्थिर रहती है। तो पदार्थमें ये तीन तत्व हैं इसको ये मना नहीं कर सकते।

वस्तुकी विलक्षता—अब जिनको ये तीन बातें उत्पाद व ध्रौव्य वस्तु स्वरूपसे विधित हो रही हैं वे मान लेते हैं वस्तुरूपको और जो नहीं समझते, फिर वे कल्पनाएं करते हैं कि इस लोकके रचने वाला कोई ब्रह्मा है, इस लोककी रक्षा करने वाला कोई विष्णु है और इस लोकका संहार करने वाला कोई महेश है। इस तरह तीन देवताओंकी कल्पना चलती है, क्योंकि यह अवश्यम्भावी है कि जो पर्याय है वह नष्ट होगी, नवीन पर्याय बनेगी और फिर भी वह मूलभूत चीज़ बनी रहेगी। ये तीनों बातें वस्तुके स्वभावमें हैं इस बातको तो मना नहीं कर सकते, किन्तु स्वरूपमें न देखकर अलगसे तीन देवता मान लिया। अरे वस्तु में देखो तो त्रि देवता रूप सब वस्तु हैं। बताओ पहले ब्रह्मा हुए कि विष्णु कि महेश? और इनमें छोटा बड़ा कौन है? तो इसका कोई सही उत्तर नहीं मिल पाता। कभी तो यह चर्चा होती है कि ब्रह्मा पहले हुए, विष्णु बादमें हुए, लेकिन कुछ कथन ऐसे भी मिलते हैं कि जहां एक देवताको दूसरे देवताकी शरणमें जाना पड़ा तो काल कुछ न रहा, छोटे-बड़ेकी बात कुछ न रही। कभी कोई किसीके पास शरण लेता है कभी कोई। और इन तीन देवताओंके धर्मको यदि वस्तुके स्वभावमें ही परखा जाए तो देखो कितना वस्तुका वैभव (जौहर) विदित होता है? वस्तु है तो उसमें नई पर्यायका उत्पाद है, पूर्व पर्यायका विनाश है और सदा वह वस्तु रहती है। इस उत्पादका नाम है ब्रह्म, व्ययका नाम है महेश ध्रौव्य (स्थिरता) का नाम है विष्णु। ये तीनों ही धर्म वस्तुमें एक साथ हैं।

जिस समय उत्पाद है उसी समय व्यय है और उसी समय ध्रौव्य। जैसे मिट्टीमें घड़ा पर्याय बनी तो घड़ेका उत्पाद है, मृतपिण्डका विनाश है और जो मिट्टी ध्रौव्य है तो उसकी सदा स्थिरता है। तो एक साथ उत्पाद व ध्रौव्य ये तीन धर्म हैं। अब स्वरूपकी दृष्टिसे देखो तो जो उत्पादका स्वरूप है वह व्ययका नहीं, जो व्ययका स्वरूप है वह ध्रौव्यका नहीं। इन तीनोंका स्वरूप भी न्यारा-न्यारा है। इस तरह देखा जाए तो प्रत्येक धर्मको प्रत्येककी शरण लगी। यदि इन तीनोंमेंसे किसी एकको न माना जाए तो बाकी दो भी नहीं रह सकते। जैसे मान लो कि वस्तु है मगर न उसमें उत्पाद है, न व्यय है तो वह कोई सत् न रहेगा। वस्तु निरंतर उत्पन्न होती रहती है, उसमें यदि किसी पर्यायका उसी समयमें व्यय न हो तो उसका उत्पाद भी न बनेगा। और पर्याय नष्ट ही होती रहे, उसमें यदि किसी नवीन पर्यायका उत्पाद न हो तो उसका व्यय भी न बनेगा तो ये तीनों धर्म प्रत्येक वस्तुमें इस तरहसे हैं कि एकके बिना दूसरीकी सत्ता नहीं टिकती। यों वस्तु उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप है।

उत्पादव्ययध्रौव्यका समीक्षण—प्रत्येक पदार्थमें वे उत्पाद व्ययध्रौव्य भिन्न-भिन्न रूपमें परखमें आयेंगे। जैसे जो जीव शुद्ध हो गया जैसे सिद्ध भगवान, सिद्ध भगवानको हम क्यों पूजते हैं कि वह एक ऐसी उत्कृष्ट आत्मा है कि जिनके साथ शरीर है, न कर्म लगे हैं और न राग द्वेषादिक विकार हैं, यों द्रव्य कर्म, भाव कर्म, नौ कर्म इन तीनोंसे रहित केवल आत्मा ही आत्मा रह गया है, उसका अलौकिक वैभव है। यह आत्मा केवल रह जाए, उसके साथ किसीका भी सम्बंध न हो तो इसके गुण पूर्ण विकसित हो जाते हैं। ऐसा अलौकिक ज्ञान बनता है

कि तीनों लोका लोकके समस्त पदार्थ ज्ञानमें आते हैं। उन सिद्ध भगवानका ऐसा अद्भुत आनन्द है कि जिस आनन्दमें कहीं न न्यूनता है, न विषमता है, न आकुलता है। और, अनन्त काल तकके लिए उस ही रूप सदा रहते हैं। तो जिनके परिपूर्ण ज्ञानानन्द हैं ऐसे ये सिद्ध भगवान जिनके ध्यानसे ही हम आपकी सिद्धि हो सकती है, उनके स्वरूपके ध्यानसे अपने आपका स्वरूप विदित होता है और स्वानुभव प्रकट होता है और उनसे ही समस्त कर्मों का क्षय होता है। क्योंकि क्षयसे शरीर जन्म मरणके ये सब दूर हो जाते हैं, और शुद्ध केवल परमात्मा रूपी रह जाता है, ऐसा वह जो शुद्ध जीव है वह कैसा है? अकेला। अपने स्वरूपसे निराला है, उसमें केवल ज्ञान, केवल दर्शन आदि ये तो शुद्ध गुण हैं और लोक प्रमाण अखण्ड प्रदेश शुद्ध पर्याय हैं याने शुद्ध जीवास्तिकाय हैं जो व्यक्तिमें चरमदेह प्रमाण है। जिस आत्माके साथ किसी अन्यका कोई सम्बंध नहीं है उसका उत्पाद व्यय ध्रौव्य क्यों हो? तो परमार्थ: तो यह बताया गया है कि अगुरुलघुत्व गुणकी वृद्धिसे उनमें उत्पाद है और हानिसे उनका व्यय है, और वहां जो नवीन पर्यायका आविर्भाव हुआ है वह उत्पाद है और पूर्व समयकी पर्याय जो गुजर गई वह उनका व्यय है। अब अशुद्ध जीवको देखो तो उनमें जो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, आदिक नाना ज्ञान बनते हैं वह तो उत्पाद हैं अथवा नर नारक आदि पर्याय बनती हैं वह उनका उत्पाद है, पूर्व शरीरको छोड़ा, नवीन शरीरको ग्रहण किया। जीव वहीं था अब नारकी कहलाने लगा, पशु कहलाने लगा, और जीव जिस पर्यायमें जाता है उस पर्याय माफिक ही अपना सारा ढांचा बना लेता है। मनुष्य है तो उसका खाना, पीना, उठना, बैठना आदि सारी क्रियायें मनुष्य जैसी हैं और अगर मरकर पशु-पक्षी आदि बन गए तो वहाँ उस तरहकी क्रियायें होंगी। तो क्रियाओंमें परिवर्तन तो हो गया मगर मूलमें जीव तो वही रहा।

अपनेको नित्यानित्यात्मक माननेसे धर्मधारणकी शक्तिका अवसर देखिए अपने आपको मैं नित्य हूँ मैं अनित्य हूँ, ऐसी दोनों बातें स्वीकार किए बिना धर्मके लिए चित्त न होगा। मैं सदाकाल रहता हूँ, कहीं मेरा विनाश नहीं है और मैं नवीन नवीन पर्यायोंको धारण करता हूँ तब यह दया होती है अपने आपपर कि अपना ऐसा उपयोग बनावे कि जिससे नवीन पर्याय कष्टमयी न बनें मान लो आज ज़रा ज़रासे कष्टसे बचनेके लिए मनको स्वच्छन्द बनाया है, अनेक प्रकारके भोगविषयोंमें अपने चित्तको फंसाकर जो आज स्वच्छन्द होकर प्रवृत्तियाँकी जा रही हैं वे सब इस जीवको अहितके गर्तमें पटकने वाली होंगी। यहाँकी मौज कितने दिनोंके लिए है? मगर यह मोही प्राणी इन्हींमें रत होता है, कष्ट चाहे कितने ही सहन करने पड़ें। ठीक है, आज तो इन भोगविषयोंमें रमनेमें बड़ा अच्छा लग रहा है, पर थोड़े ही दिनों बादमें मान लो यहाँसे मरकर घोड़ा-खच्चर बन गए तो क्या हाल होगा? आप रोज़-रोज़ उन जीवोंकी हालत देख ही रहे हैं। जहाँ दो सालका ही खच्चरका बच्चा हुआ बस उसे इक्का, तांगा आदिमें जोतने लगते हैं, बड़ा बोझा उसपर लादते हैं, दौड़ाते हैं, जरा भी चालमें कमी हुई तो ऊपरसे कोड़े बरसाते हैं। इतनेपर भी जब बेकाम सा हो जाता तो उसे कसाइयोंके हाथ बेच देते हैं, तो ज़रा उन खच्चरों आदिके दुःखकी कहानीपर ध्यान तो दो कितना कष्ट है। आज इन मनुष्य पर्यायोंमें आकर ज़रा-ज़रा सी बातोंमें कष्ट मानते हैं, भोगविषयके साधन जुटानेमें संलग्न हैं, इनसे इस जीवका पूरा न पड़ेगा। जीवका पूरा तो जीवके निजि वैभवसे ही पड़ेगा, इन बाहरी विभूतियोंसे जीवका पूरा न पड़ेगा। जब यह जीव इस तरहके अनेक जन्म-मरणको धारण करता फिरता है तो अपना परिणाम ऐसा बनानेकी आवश्यकता है कि हमारी परिणति शुद्ध बने, जिसमें क्लेश नहीं हो। तो नित्यानित्यात्मक पदार्थ माननेसे हमें वहाँ उपदेश प्राप्त होता है।

पुद्गल, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश व कालद्रव्यका उत्पादव्यय अब पुद्गल द्रव्योंको देखो जो

एक शुद्ध परमाणु है वह तो है शुद्ध द्रव्य और उसमें स्पर्श, रस, गंध, वर्णादिक गुण हैं, जब वह परमाणु असंख्यात अथवा अनन्त मिल जाते हैं तो वहाँ स्कंधपिणु बन जाता है। यहाँ जो कुछ भी पदार्थ दिखता है वह अनेक (अनन्त) परमाणुओंका पिण्ड है। जब अनेक परमाणु मिले तो स्कंध पर्यायका उत्पाद हुआ। परमाणु बिखरे तो उसका व्यय हुआ, मगर परमाणु स्वरूपमें तो वह सदा ही रहता है। रूपादिककी अवस्थाओंमें गुण पर्याय बनतीं हैं। ऐसे ही धर्मद्रव्य, अधर्म द्रव्य आदि सभी द्रव्योंका उत्पाद व्यय है। धर्मद्रव्यका लक्षण बताया है कि जीव पुद्गलके चलानेमें सहकारी होना। वह धर्म द्रव्य लोकालोक बराबर है और जीव पुद्गल चलते हैं उससे उनका उत्पाद है, पुद्गल, जीव जब ठहरते हैं तो लो वह धर्मद्रव्यका व्यय है। यह कथन है अपेक्षिक। वस्तुतः धर्मद्रव्यमें जो अगुरुलघुत्व गुण है। उसकी षड्गुण वृद्धि में उत्पाद और षड्गुण हानिमें व्यय है। इसी तरह धर्मद्रव्यमें जो जीव पुद्गल ठहरनेमें सहकारी हों। जब पुद्गल ठहरे तो उस रूपका उत्पाद है, ठहरना मिटा तो उस रूपका व्यय है। और फिर भी वह द्रव्य सदा है और वस्तुतः उसके अगुरुलघुत्वकी षड्गुणा वृद्धि हानिमें उत्पाद व्यय है। इसी तरह आकाश द्रव्यको ले लीजिए यह आकाश अखण्ड है, एक है, सर्वव्यापी है। इसका उत्पाद व्यय क्या? वस्तुतः अगुरुलघुत्व गुणकी हानि वृद्धिसे उत्पाद व्यय है और नीचेसे कोई घट उठाकर यहाँ ऊपर रखा गया तो यहाँ (ऊपर)के घटाकाशरूपका तो उत्पाद हुआ और नीचेके घटाकाशरूपका व्यय हुआ। इसी प्रकार कालद्रव्य काल द्रव्यका वास्तविक परिणमन अगुरुलघुत्वकी हानि वृद्धिसे है, पर उसमें नवीन समय जो आया वह उत्पाद है और पुराना समय गया वह उसका विनाश है। इस प्रकार निरखें तो जगतमें जो भी सत् है वह सब उत्पाद व्यय ध्रौव्ययुक्त हैं। तत्त्वार्थ सूत्रमें पञ्चम अध्यायमें आया है उत्पादव्यय ध्रौव्ययुक्तसत्। लोग इस पढ़े तो जाते हैं पर इस सूत्रमें कितना मर्म (जौहर) भरा है इसपर लोग दृष्टि नहीं देते।

विभ्रमज कष्टके विनाशका उपाय विभ्रमविनाश—भैया! मोह मिटेगा तो वस्तुस्वरूपके सम्यग्ज्ञानसे मिटेगा। और जब मोह मिटेगा तब ही जीवको शान्ति होगी, क्योंकि मोह एक व्यर्थकी चीज़ है। पहिले किसी पर्यायमें थे, वहाँ बहुत सा समागम मिला हुआ था, आज बतलावो वह समागम कुछ है क्या? कुछ भी नहीं है। तो ऐसे ही समझलो आज जो समागत प्राप्त हैं वे अभी थोड़े दिनों बाद आपके कुछ न रहेंगे। वे समस्तपर पदार्थ आपसे अत्यन्त विभिन्न हैं लेकिन मोहवश यह मोही प्राणी उन्हें अपना मान लेता है। यह कल्पना भी नहीं करता कि ये मेरे नहीं हैं। तो यह व्यर्थ मोह है। मोहवश जबरदस्ती ये प्राणी परपदार्थोंको अपनाते हैं और दुःखी होते हैं। जैसे कोई अतिथि घर आया तो उसे लोग बोला करते हैं कि महिमान आया। महिमा नहीं जिसकी सो महिमान। उसे लोग अपनाते तो नहीं हैं पर कोई कोई महिमान जबरदस्ती उन्हें अपनाता है। इसीकी कहावत भी प्रसिद्ध है मान न मान, मैं तेरा महिमान, या तुम लोग चाहे मुझे अपनाओं या नहीं पर मैं तो तुम्हारा हूँ। इसी तरह यह मोही प्राणी इन पदार्थोंको जबरदस्ती अपना मान लेता है, यह घर मेरा, ये कुटुम्बीजन मेरे, ये मित्र जन मेरे.....। वे इसे अपना माने अथवा न माने, पर यह मोही प्राणी अज्ञानतावश उन्हें अपनाता है और दुःखी होता है। अरे इन पदार्थोंका स्वरूप ही बतला रहा है कि ये सब भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं, किसी पदार्थका किसी दूसरे पदार्थके साथ रंच भी सम्बंध नहीं, फिर भी यह मोही प्राणी उनसे अपना सम्बंध मानता है जैसे कोई पुरुष कामी पुरुष किसी स्त्री द्वारा तिरस्कार किये जानेपर भी आसक्तिवश उसमें रती करता है इसी प्रकार इन बाह्य पदार्थोंके सम्बंधसे अनेक प्रकारके कष्ट मिलनेपर भी यह जीव उन पदार्थोंका समागम नहीं छोड़ता। यही तो कष्ट है। तो यह सूत्र यही चेतावनी देता है कि उत्पाद व्यय ध्रौव्ययुक्त पदार्थ है। पदार्थको स्वरूप ही है कि वह अपनेमें उत्पाद करे,

अपनेमें व्यय करे और अपनेमें ही बना रहे। जब सभी पदार्थ अपने-अपने स्वरूप पकार ऐसा व्रत लिए हुए हैं तो फिर किसका कौन रहा? लेकिन ये मोही जीव कितना ही समझाए जानेपर भी यही भीतरसे आवाज़ देते हैं कि मेरे तो यही सब कुछ हैं। बस इसी कुबुद्धिसे ही सारा कष्ट है। इस विभ्रमके मिटनेपर सारे कष्ट दूर हो जाते हैं।

पडिसमयं परिणामो पुव्वो णस्सेदि जायेदे अण्णो। वत्थु-विणासो पढमो उववादो भण्णदे विदिओ ॥ २३८ ॥

वस्तुमें प्रति समय उत्पाद व्ययकी समीक्षा व्यय और ध्रौव्य क्या कहलाते हैं, उनके स्वरूपका इस गाथामें वर्णन है। प्रत्येक समयमें पदार्थमें पर्यायें होती रहती है। तो किसी भी समयमें जो पहिली पर्याय है उसका तो व्यय है और जो नवीन पर्याय है उसका उत्पाद कहलाता। जैसे घड़ा फूट गया तो खपरियोंका उत्पाद हुआ और घड़ा पर्यायका व्यय हुआ। इतनेपर भी मिट्टी वहीं बनी रही। यही बात सभी पदार्थोंमें समझना चाहिए। यहाँ पूर्वपर्यायका नाश हुआ तो उसके मायने यह नहीं समझना कि वस्तु पूरी नष्ट हो गयी। यदि वस्तु पूरी नष्ट हो गई तो यह अर्थ लिया जाएगा तो यह क्षणिकवाद कहलाएगा निरन्वय नाश। क्षणिकवादमें नवीन-नवीन वस्तु निरंतर उत्पन्न होती रहती हैं, वह सद्भूत नहीं है, बिल्कुल नई वस्तु उत्पन्न हुई है और पहिलेकी वस्तु पूर्ण नष्ट हो गई है,लेकिन इस प्रकार तो वस्तु स्वरूप नहीं है। वस्तुका एक नवीन परिणतिसे तो उत्पाद है और पूर्ण परिणतिसे व्यय हुआ और इसमें एक बात यह समझना कि कोई पदार्थ अपनी जातिको छोड़कर नहीं परिणमता। जैसे जीव परिणमता है तो जीव पुद्गल बनकर परिणमन करे सो न होगा। प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने में रहकर ही परिणमता है। जैसे जीव कितने ही विकल्प करे। वहाँ नए-नए विकल्प बनते, पुराने विकल्प दूर होते और जीव वही एक विकल्प रहता है। तो यों उत्पाद व्यय ध्रौव्ययुक्त समस्त पदार्थ है।

भारतीय मुद्रामें जैनशासनका संकेत-अब देखिये आजके भारत देशकी जो मुद्रा है उसका रूप क्या है? उसमें अशोकका चिह्न है, तो उस अशोक चिह्नका भी रूप क्या? अशोक चिह्नमें चार सिंह ऊपर बनाये गए, एक पूर्वकी ओर, एक पश्चिमकी ओर, एक उत्तरकी ओर और एक दक्षिणकी ओर। पीछेका सिंह तो दिखेगा नहीं, केवल तीन ही दिखाई पड़ते हैं। वे तो वे चार सिंह वास्तवमें हैं क्या? महावीर स्वामीके शासनमें उनका चिन्ह बताया गया सिंह। तो वह सिंह महावीर स्वामीकी स्मृति दिलाता है। एक अशोक राजा हो चुका है उसके राज्यमें यह सिंहका चिह्न बनाया गया था। अशोक भी पहिले जैन था, कारणवश पीछे युद्ध हुआ तो उसके समयमें बौद्धमतका प्रसार अधिक होनेसे वह बौद्ध बन गया, वे सभीके सभी चिह्न दूसरे रूपमें आ गए।

भारतध्वजमें वस्तुस्वरूपका चित्रण—अब ध्वजाकी बात देखिये तो वह भी वस्तुस्वरूपका संकेत करता है। उसमें तीन रंग हैं—लाल, हरा और सफेद। और, वह भी हरा, लाल रंग तो अगल बगल हैं बीचमें सफेद रंग है। साहित्यिक रचनामें कविजन बताते हैं कि हरा रंग उत्पादका सूचक है। लोग कहते भी तो हैं कि अमुक व्यक्ति खूब हरा-भरा है मायने खूब घर, द्वार, धन, दौलत आदिसे भरापूरा है। तो हरे रंगका वर्णन चलता है उत्पादमें। लाल रंगका वर्णन चलता है विनाशके लिए। कोई युद्ध हो जाये, खूनकी धारायें बह जायें, हत्यायें हो जायें तो वहाँ कविजन लाल रंगका वर्णन करते हैं। अब देखिये-बीचमें जो सफेद रंग है उसका मतलब है कि वस्तु ध्रुव है। ध्रुवता, स्थिरताका वर्णन श्वेत रंगसे किया जाता है। श्वेत रंगसे सम्पर्क रखने वाले लाल और हरे रंग हैं याने वस्तुकी स्थिरतासे सम्पर्क रखने वाले उत्पाद और व्यय अगल बगलमें हैं यों प्रत्येक वस्तु उत्पादव्यय ध्रौव्यात्मक

है। उस ध्वजाके बीचमें २४ आरोंका एक चक्र बना हुआ है वह सूचक है चौबीस तीर्थकरोँका। वह २४ आरोंका चक्र संसारके प्राणियोंको यह सूचना देता है कि ऐ संसारके प्राणियों! यदि तुम सुखी होना चाहते हो तो चतुर्विंशति तीर्थकरोँसे प्रणीत वस्तुस्वरूपकी सत्य श्रद्धा करो, क्योंकि शान्ति मिलेगी इस मोहके मेटने से, और यह मोह कब मिटेगा जबकि हम यह समझ पायेंगे कि प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने स्वरूपमें है, किसीका किसी परपदार्थमें गमन नहीं है, ऐसी वस्तुकी स्वतंत्रताका जब बोध होगा तब ही हम वस्तुके सत्य स्वरूपको परख सकेंगे। अतः सम्यग्ज्ञानके लिए हमें स्वाध्यायमें बहुत-बहुत उपयोग देना चाहिए, क्योंकि ज्ञान होगा तो यही हमारा साथी बनेगा और यहाँके समागम कुछ भी प्राप्त हो जायें पर वे हमारी साथी कभी नहीं हो सकते। दुःख दूर होंगे तो विवेकसे होंगे। विवेक किए बिना इस मोह द्वारा उपार्जित दुःख दूर न हो सकेंगे।

णो उप्पज्जदि जीवो दव्व-सरूवेण णोव णस्सेदि ।

तं चेव दव्व मित्तं णिच्चत्तं जाण जीवस्स ॥ २३९ ॥

द्रव्यस्वरूपसे जीवके उत्पादव्ययका अभाव—जीवद्रव्य स्वरूपसे न तो उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है। याने जो जीवद्रव्य है वह जीवद्रव्य न तो नया बना है और न यह खुद मिटेगा। इस ही को समझना चाहिए कि यह नित्य है, द्रव्यमात्र है। जीवका जो निजीस्वरूप है, जो निजी वस्तु है वह वस्तु नहीं मिटती, वह तो अनादि अनन्त है। जैसे लोग कहा करते हैं कि अमुक पुरुषने जन्म लिया, अमुक बालकने जन्म लिया तो वहाँ जीवने जन्म नहीं लिया, जीव तो अनादिसे है अनन्त काल तक है, और जीव ही क्या, जगतमें जितने भी पदार्थ हैं वे सब अनादि अनन्त हैं, किसीका सत्त्व बादमें आया हो सो बात नहीं है तो जीव सत्ता स्वरूपसे अपने ध्रुवरूपसे अथवा परिणामिक भावरूपसे न तो उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है यदि जीवका उत्पादव्यय माना जाये तो इसके मायने है कि कोई नया जीव उत्पन्न हो गया अथवा स्वयं जो तत्व है उसका नाश हो गया, पर ऐसा तो नहीं है। जो भी सत् है। वह नष्ट कहाँसे हो जायेगा? जैसे यहाँ जिन पुद्गलोंको देखते हैं कि जाल देनेपर राख हो जाते हैं, राख उड़ जाती है, जरा-जरासे हिस्सोंमें फैल जाती है, फिर भी उसका जो मूल परमाणु है वह कभी नष्ट न होगा। तो निश्चयनयसे वस्तु न तो नष्ट होती है और न उत्पन्न होती है किन्तु ध्रुव है, स्थिर है, रहा करती है। तो यह पदार्थोंके स्वरूपकी चर्चा चल रही है कि प्रत्येक पदार्थ पर्यायरूपसे उत्पन्न होता है और नष्ट होता है, लेकिन उनका जो मूल रूप है वह सदा है, द्रव्य है, वह न कभी उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है।

अण्णइ-रूवं दव्वं विसेस-रूवो हवेइ पज्जावो ।

दव्वं वि विवेसेण हि उप्पज्ज दिणस्सदे सददं ॥ २४० ॥

वस्तुकी अन्वयिरूपता और विशेषरूपता—द्रव्यको कहते हैं अन्वयी याने जो सब पर्यायोंमें रहे उसको कहते हैं अन्वयी। जो जीव अन्वयी है, आज मनुष्य है तो इस पर्यायमें भी वही जीव है, मरण करके देव आदिक हो गए तो वहाँ भी वही जीव है। समस्त पर्यायोंमें जीव वही रहता है, इस कारणसे इसे अन्वयी कहते हैं तो द्रव्य क्या होता है? वह जो अन्वयी हो, और जो विशेषरूप हो, जो अब है सो आगे नहीं, जिसका आकार प्रकार मुद्रा न्यारी-न्यारी है, विशेष स्वरूप है उसका पर्याय कहते हैं। यहाँ दो बातें जाननी हैं—द्रव्य और पर्याय। द्रव्य जो होता है वह सदा रहता है। पर्याय नष्ट होती रहती है। जैसे मनुष्य, तिर्यञ्च, नारकी आदि ये सब पर्यायें हैं। जीवद्रव्य है, अथवा क्रोध, मान, माया, लोभ, इच्छा आदिक ये सब पर्यायें हैं और इन सबमें रहने वाला जो अन्वयी चेतन है उसे जीवद्रव्य कहते हैं। तो द्रव्य विशेषरूपसे न जीव कभी उत्पन्न होगा और न कभी नष्ट होगा। जिसमें यह

बोध हो रहा है कि मैं हूँ इस अहं प्रत्ययके द्वारा जो जाना जा रहा है, सो मैं सद्भूत वस्तु हूँ। उस सत्का कभी नाश नहीं होता और न कभी उत्पाद होता। इससे हमें यह शिक्षा लेना है कि जो मैं हूँ वह कभी मिट नहीं सकता, सदा रहूँगा, लेकिन उसमें विशेष पर्यायें होती हैं तो इससे हम यह निर्णय बनायें कि हम ऐसी पर्याय बनायें कि जिसमें अशान्ति न हो। जब हम विशुद्ध परिणाम बनायेंगे, आचरण बनायेंगे, अनुकूल श्रद्धान होगा तब ही तो हमारा भविष्य शान्तिमय व्यतीत होगा। तो यह शिक्षा लेना है इस नित्यत्व और अनित्यत्वकी बात सुनकर कि हम जब सदा रहेंगे तो फिर हमें ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि हमारी अवस्था शान्तिस्वरूप रहे।

सरिसो जो परिणामों अणाइ-णिहणों हवे गुणो सो हि।

सो सामण्ण-सरूवो उप्पज्जदि णस्सदे णेय ॥ २४१ ॥

द्रव्य होता है गुणपर्यायरूप याने जो भी चीज है उसमें दो बातोंकी परख करना है। एक तो उसकी अवस्था और दूसरे उस पदार्थकी शक्ति। शक्तिका तो नाम है गुण और अवस्थाका नाम है पर्याय। कोई भी पदार्थ हो वह गुण पर्यायात्मक है। यदि पदार्थमें गुण न देखें, पर्याय न देखें तो पदार्थ फिर मिलेगा ही क्या? तो पदार्थमें जो सदृश परिणाम है, अनादि अनन्त है उसे गुण कहते हैं। वह सामान्य स्वरूप है। गुण कभी नया उत्पन्न नहीं होता और न कभी नष्ट होता। जैसे जीवादिक द्रव्योंमें कुछ गुण ऐसे पाये जाते हैं जिन्हें सामान्य कहते हैं। सबमें पाये जाते हैं। और, कुछ विशेष गुण होते हैं जैसे जीवद्रव्यमें अस्तित्व गुण है, उसकी सत्ता है तो यह अस्तित्व सामान्य है, जीवमें भी अस्तित्व है और पुद्गल आदिक सभी द्रव्योंमें भी अस्तित्व है तो कुछ गुण ऐसे होते हैं जो सामान्य कहलाते हैं और कुछ विशेष गुण होते हैं, तो सामान्य और विशेष दोनों गुणोंको समझना है, इसीसे द्रव्यकी परख बनती है। गुण वह कहलाता है जो सबमें एक साथ है। गुणोंमें क्रम नहीं है, पर्यायोंमें क्रम है।

जीवमें सामान्य और विशेष गुण—अब उन्हीं सामान्य विशेष गुणोंकी बात सुनो! जीवमें सामान्य गुण ८ हैं—अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व, प्रमेयत्व और प्रदेशत्व, ये ६ तो प्रसिद्ध साधारण गुण हैं। जीव अजीव सबमें समान पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त जो सब जीवोंमें पाये जावें तथा जो जीव व कुछ अजीवोंमें भी पाये जावें इस दृष्टिसे चैतनत्व और अमूर्तिकत्वको भी सामान्य गुण कहते हैं। तो पहिलेके जो ६ सामान्य गुण हैं वे तो सब द्रव्योंमें हैं, अस्तित्व मायने वस्तुका होना, सत्ता होना। वस्तुत्वके मायने अपने स्वरूपसे होना, परके स्वरूपसे न होना, जैसे कि ये दो हाथ हैं, तो दाहिना हाथ अपने स्वरूपसे है बायां हाथ अपने स्वरूप से, तब ही इन दोनों हाथोंका स्वरूप है जगतमें जो भी पदार्थ दिख रहे हैं उनका यही स्वरूप है, क्यों है यों कि एक पदार्थ दूसरे पदार्थके स्वरूपसे नहीं है तो यह कहलाता वस्तुत्व। द्रव्यत्व, जो निरन्तर परिणामन करता ही रहे। कोई समय ऐसा न आयेगा कि जहां परिणामन रुक जाये। इसे कहते हैं द्रव्यत्व गुण। और, परिणामन अपने स्वरूपमें ही करे दूसरेके स्वरूपमें न करे इसे कहते हैं अगुरुलघुत्व, और पदार्थ जब है तो अपने क्षेत्रमें दूसरेमें नहीं है इसे कहते हैं प्रदेशत्व और वह किसी न किसी ज्ञानके द्वारा ज्ञेय है इसे कहते हैं प्रमेयत्व। तो ये ६ गुण सभी पदार्थोंमें हैं और चैतनत्व सब जीवोंमें हैं तो सब जीवोंकी दृष्टिसे इसे भी सामान्यगुण कहा है। जैसे मुझमें चैतन है, आपमें है, सभी जीवोंमें है, अमूर्तत्व सभी जीवोंमें है और कुछ अन्य द्रव्योंमें भी है, यो ये ८ सामान्य गुण कहे हैं। विशेषगुण क्या हैं जीवके सो सुनो—ज्ञान, दर्शन, आनन्द, शक्ति और अमूर्तत्व, चैतनत्व, तो ये ज्ञान, दर्शन, आनन्द, शक्तिके चार गुण तो जीवमें ही हैं अन्यमें नहीं पाये जाते, और सब जीवोंमें भले ही समान हैं पर अन्य द्रव्योंमें नहीं हैं। इस कारण गुण विशेष हैं। और, अमूर्तत्व पुद्गलमें नहीं है, जीवमें है, अन्य द्रव्योंमें भी है, फिर भी सब

द्रव्योंमें नहीं है, इस कारण विशेष गुण कहा है। और चेतन तो इस जीवमें ही है अन्य पदार्थोंमें नहीं है तो इन गुणोंकी परख से बोध होता है कि यह मैं जीव हूँ। हूँ ना, इस कारणसे ६ सामान्य गुण हो गए, और मैं सबसे निराला हूँ, अपने स्वरूपमें हूँ। तो कोई इसका विशेष गुण होना चाहिए।

पुद्गल, धर्म अधर्म, आकाश व कालद्रव्यके सामान्य विशेष गुण—पुद्गलमें पूर्वकी भाँति ६ सामान्य गुण हैं, और अचेतनत्व मूर्तत्व ये भी सामान्य गुण हैं। क्योंकि सब पुद्गल मूर्तिक हैं, चाहे दिखने योग्य हों, चाहे न दिखने योग्य हों, सभी पुद्गलोंमें मूर्तिपना है, रूप, रस, गंध, स्पर्श है, अचेतनता है और पुद्गलमें विशेष गुण हैं रूप, रस, गंध, स्पर्श और अचेतनता और मूर्तपना, पुद्गल अचेतन हैं, वे सब रूपी होते हैं, उनमें रूप, रस, गंध स्पर्श हैं, अन्य द्रव्योंमें नहीं हैं, इस कारण अचेतनत्व व मूर्तत्वको पुद्गलके विशेष गुण कहा है। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश व कालद्रव्यमें अस्तित्वादि ६ सामान्य गुण तो हैं ही, अब विशेष गुण सुनें—धर्म द्रव्यमें खास गुण है—जीव पुद्गल चलें तो उनकी गतिमें कारण बनें, अचेतनत्व और अमूर्तत्व भी धर्मके विशेष गुण हैं। अधर्मद्रव्यका गुण है कि जीव पुद्गल चलते हुए ठहरें तो उनके ठहरनेमें कारण पड़ें और अचेतनत्व अमूर्तत्व भी अधर्मका विशेष गुण है। आकाश—इसका गुण है अवगाहन। सभी पदार्थोंको अपनेमें स्थान दे, अचेतनत्व अमूर्तत्व भी आकाशके गुण हैं कालद्रव्यका विशेष गुण है। परिणामनमें कारण बने, तथा अचेतनत्व अमूर्तत्व भी कालद्रव्यका गुण है। तो यों जो ६ जातिके पदार्थोंकी व्यवस्था जैनशासनमें कही है वह निर्दोष है, याने कोई पदार्थ छोटे नहीं और कोई पदार्थ दुबारा आये नहीं, इसे कहते हैं सही व्यवस्था। यों पदार्थ अनन्तानन्त हैं और उनकी जातियाँ ६ हैं, और वे द्रव्यस्वरूपसे कभी भी नष्ट नहीं होते, और न कभी उत्पन्न होते, अनादि अनन्त हैं।

सो वि विणस्सदि जायेदि विसेस-रूवेण सव्व-दव्वेसु।

दव्व-गुण-पज्जयाणं एयत्तं वत्थु परमथं ॥ २४२ ॥

वस्तुमें द्रव्यगुण पर्यायका एकत्व—जितने भी द्रव्य हैं सभी द्रव्योंके गुण विशेष रूपसे उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं। जैसे जीवका ज्ञानगुण है तो अभी कुछ जाना, फिर कुछ जाना, तो जाननेकी जो विशेषतायें हैं वे तो बदलती रहती हैं मगर ज्ञानसामान्य, सहजज्ञान ये नहीं बदलते। ये तो अनादिसे अनन्तकाल तक रहते हैं तो यों शक्तियाँ और उनके परिणमन इनका जो पिण्ड है उसीको ही द्रव्य कहते हैं। द्रव्यके मायने हैं उसमें अनेक प्रकारकी शक्तियोंका रहना और उसे किसी न किसी अवस्थामें बने रहना। यहाँ यह जानना कि द्रव्य, गुण, पर्याय कोई जुदी वस्तु नहीं हैं जैसे जीव है वह ज्ञानमय है, और ज्ञानकी प्रतिसमय कोई न कोई परिणति चलती है तो ऐसा नहीं है कि वह परिणमन न्यारी चीज हो और ज्ञानगुण न्यारी चीज हो और जीवद्रव्य न्यारी चीज हो, तीनों ही एक हैं। उन गुणों और पर्यायोंके अलावा द्रव्य कोई वस्तु नहीं प्रतीत होती, वे गुण द्रव्यसे अलग भी नहीं हो सकते और चूँकि गुण निरन्तर परिणमते रहते हैं तो जिस समय जो अवस्था बन रही है उस समय वह उस अवस्थासे कहीं अलग नहीं है, तादात्म्य रूप है। यों पदार्थ नाना गुण पर्यायोंरूपमें हैं और उनका जो पिण्ड है उसीको द्रव्य कहा करते हैं।

जदि दव्वे पज्जाया विविज्जमाणा तिरोहिदा संति।

ता उप्पत्ती विहला पडिपिहिदे देवदत्तेव्व ॥ २४३ ॥

द्रव्यमें विद्यमान अनन्त पर्यायोंकी तिरोहिताके सिद्धान्तकी समालोचना—अब कुछ न्यायके ढंगसे पर्यायके सम्बन्धमें कुछ समाधान किए जा रहे हैं। यहाँ कोई यह जिज्ञासा कर सकता है कि द्रव्यमें जो पर्याय

बनती हैं वह पहिलेसे मौजूद है वही बनती हैं या नहीं मौजूद हैं वह बनती हैं? यह जिज्ञासा होना प्राकृतिक है। जैसे जीवमें क्रोध जगा तो बतलाओ वह क्रोध परिणमन जीवमें पहिलेसे था, सो ही उत्पन्न हुआ या पहिले न था जो उत्पन्न हुआ? ऐसी जिज्ञासाका समाधान इस गाथामें किया गया है। देखिये यदि द्रव्यमें पर्याप्त पहिलेसे विद्यमान हो तो इसके मायने यह हुआ कि पर्याय तो पदार्थमें थी लेकिन उसको किसी आवरण द्वारा ढक दिया तो ऐसी स्थितिमें उत्पन्न होना न कहलायेगा। जैसे बहुतसी चीजें रखी हैं और उन पर ऊपरसे कोई कपड़ा ढक दिया गया। जब कपड़ेको हटाया गया तो वे सभी चीजें दिखनेमें आने लगीं। अब बताओ वे चीजें वहाँ पहिलेसे ही थीं या बादमें बनीं? वे तो पहिलेसे ही थीं उत्पन्न नहीं हुईं। वे आवरण होनेसे दिखनेमें नहीं आ रही थीं। इसी प्रकार यदि द्रव्यमें पर्यायें पहिलेसे मौजूद हों और केवल ढकी हुई हों तो आवरणके हटनेपर यह नहीं कहा जा सकता कि पर्याय उत्पन्न हुई हैं। वे आवरण होनेसे दिखनेमें नहीं आ रही थीं। इसी प्रकार यदि द्रव्यमें पर्यायें पहिलेसे मौजूद हों और केवल ढकी हुई हों तो आवरणके हटनेपर यह नहीं कहा जा सकता कि पर्याय उत्पन्न हुई हैं। वह तो थी, व्यक्त हुई हैं। तब उत्पत्ति कहना बिल्कुल व्यर्थ हो जायेगा। कुछ दार्शनिक हैं ऐसे जो पादार्थमें सब पर्यायें मौजूद हैं ऐसा मानते हैं और यहाँ तक मानते हैं सत्कार्यवादी कि एक वटवृक्षके फलका जो एक दाना होता है उसके अन्दर भी अनेक बीज, अनेक वट तथा अनेक फल आदिकी पर्यायें मौजूद हैं। याने एक छोटेसे बरगदफलके दानेमें जितनी भी पर्यायें आगे हो सकती हैं वे सभीकी सभी पर्यायें इस समय भी मौजूद हैं। ऐसा उनका कहना है, लेकिन यह बात प्रत्यक्षविरुद्ध है। कहाँ वे सभी पर्यायें दिख रही हैं और कहाँ समाया हुआ है उतना बड़ा पेड़ उस बीजमें? वह दाना तो उस समय दाना ही है। हाँ उसमें योग्यता जरूर ऐसी है कि मिट्टी, पानी आदिकका संयोग मिले तो उसमें एक वटका अंकुर पैदा हो सकता है। तो पर्याय जो हुई है वह अविद्यमान हुई है। पहिले न थी, वह उत्पन्न हुई है। जैसे एक जीव पदार्थ है, मनुष्य, नारकी, तिर्यञ्च आदिक अनेक पर्यायोंको धारण करता है। तो उस दार्शनिकके हिसाबसे यह कहा जायेगा कि जीवमें जो कुछ आगे बनना है वे सभी पर्यायें इस समय मौजूद हैं। मगर कहाँ मौजूद हैं? नवीन-नवीन पर्यायें उत्पन्न होती हैं। तो यह सिद्धान्त निकला कि अविद्यमान पर्याय ही उत्पन्न होती हैं। हाँ जिसमें पर्याय उत्पन्न हुई वह द्रव्य पहिलेसे है। जीव है पहिले से। उसमें योग्यता है, शक्ति है। तो शक्तिकी अपेक्षा कुछ भी कह लो मगर वह अवस्था वह पर्याय वहाँ मौजूद नहीं है।

सव्वाण-पज्जायाणं अविज्जमाणाण होदि उप्पत्ती।

कालाई-लब्धीए अणाइ-णिहणम्मि दव्वम्मि ॥ २४४ ॥

अनादिनिधन द्रव्यमें प्रतिसमय अविद्यमान पर्यायोंकी उत्पत्ति—सिद्धान्त यह है कि अविद्यमान ही पर्यायकी उत्पत्ति होती है। पदार्थ है, जीव है, उसमें योग्यता है, पर जब काललब्धि मिलेगी तो उस द्रव्यमें अविद्यमान पर्यायें उत्पन्न हो जाती हैं। इसमें निष्कर्ष यह समझें कि मूलभूत पदार्थ तो अविनाशी है, अनादि अनन्त है, फिर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मिलें उस प्रकारसे तो वहाँ पर्यायकी उत्पत्ति हो गयी। वे पर्यायें अविद्यमान हैं। अविद्यमान पर्याय उत्पन्न हो जाती हैं। वह पर्याय पहिलेसे नहीं है, वह नवीन बना करती हैं और पदार्थका ऐसा ही धाराप्रवाह परिणमन चल रहा कि नवीन पर्याय बनती हैं, पूर्वपर्याय मिटती हैं और यह जीवादिद्रव्य अथवा पदार्थ सदा काल बना रहता है। इसे कहते हैं उत्पादव्ययध्रौव्युक्त सत्। जो भी पदार्थ है वह उत्पादव्ययध्रौव्य वाला है। देखिये समस्त भेदविज्ञान इस सूत्रसे विदित हो जाता है। पदार्थ है, अपने ही स्वरूपसे उत्पन्न होता है, उसमें उत्पन्न होनेका स्वभाव है कि अपनेमें अपनी पर्याय बनाये और अपने ही स्वरूप विलीन होता है, तो पदार्थको

उत्पन्न करने वाला कोई दूसरा पदार्थ नहीं है सब है, अनादिकालसे है। और इनमें उनका परिणामन चलता रहता है। उन परिणामनोंका जो समूह है उसको एक व्यापकरूपसे पदार्थ कहा है। ऐसे सभी पदार्थ स्वतन्त्र स्वतःसिद्ध है, अतः एकका दूसरेमें अत्यन्ताभाव है। जब मेरा सर्व परमें तथा सर्व परका मेरेमें अत्यन्तभाव है तब सम्बन्ध कल्पना करना नितान्त अविवेक है।

अपने भविष्यकी स्वयंपर निर्भरता—हम जैसा भाव करते हैं उस प्रकारसे हमारी रचना होती चली जाती हैं। बताया गया है कि यदि बहुत आरम्भ और परिग्रहमें चित लगा हुआ हो तो चूँकि एकदम बाहरी पदार्थोंमें उपयोग बसाया है उसका फल यही है कि ऐसा कर्मबन्धन होता है कि जिसके उदयमें नरकगतिके दुःख भोगने पड़ते हैं। जिस जीवको अपनी सुध नहीं है, एकदम परपदार्थोंमें ही उपयोग दे डाला है उस जीवकी गति अच्छी नहीं हो सकती, क्योंकि शान्तिका धाम जो स्वयं है उसकी सुध नहीं है। बताया गया है सिद्धान्त ग्रन्थोंमें कि जो जीव मायाचारकी विशेष प्रवृत्ति रखते हैं, मनमें कुछ और है, वचनोंसे कुछ और बोलते हैं, कायसे कुछ और ही चेष्टायें करते हैं, वे तिर्यञ्च गतिके पात्र हैं। और, जिनके थोड़ा आरम्भ है, थोड़ा परिग्रह है, उतनेमें ही सन्तुष्ट है, तृप्त है, अपने आपकी सुध लेनेके काबिल हो गए हैं वो जीव मरण करके मनुष्य पर्याय प्राप्त करते हैं। अब आप समझ लीजिए कि हम आप आज मनुष्य हैं तो ऐसे ही अच्छे भाव किए होंगे तभी मनुष्य बने हैं। यदि आज हम उन भावोंके विरुद्ध चलते हैं तो परिणाम यही होगा कि खोटी गतियाँ प्राप्त होंगी। सिद्धान्त ग्रन्थोंमें बताया है कि जो जीव दया, दान, संयम, ब्रत, जप, आदि करते हैं वे मरकर देवगतिमें उत्पन्न होते हैं। तो हम कैसे बनें? हमको सुख शान्ति मिले इसका उपाय तो इस ही में बसा हुआ है। उसके कर सकने वाले हम ही हैं। कोई दूसरा हमारा हमारी इस सृष्टिको करनेमें समर्थ नहीं है। तब बहुत बड़ी जिम्मेदारी है इस मनुष्यभव में। अगर हम आप आज यत्न करें तो कभी मोक्ष भी पा लेंगे। सदाके लिए संसारसंकटोंसे छुटकारा पा लेंगे, और यदि हम नहीं चेतते हैं तो फिर इस ही संसारमें आवागमन बनाये रखनेका उपाय बना लेंगे। तो हम नीचेसे नीचे गिरें और ऊपरसे ऊपर उठें, उस सबकी जिम्मेदारी हमारे इस मनुष्यभवमें है। यहाँ थोड़ा सा समागम मिला और मिले इतने समागमके पीछे अपने सारे भविष्यको खतरेमें डाल देना यह उचित नहीं है। तो हमें चेतना चाहिए और सभ्यत्वलाभसे अपना जीवन सफल करना चाहिए।

दव्वाण पञ्जयाणं धम्म-विवक्खाए कीरणे भेओ।

वत्थु-सरूवेण पुणो रण हि भेदो सक्कदे काडं ॥ २४५ ॥

द्रव्य और पर्यायमें धर्मविवक्षासे भेद और द्रव्यस्वरूपसे अभेद—मूल प्रसंगमें कारण और कार्यकी बात चल रही थी कि कार्य तो कहते हैं अवस्थाको और कारण कहते हैं उस द्रव्यको जिसमें कि अवस्था बने। जैसे जीवमें राग हुआ तो परमार्थसे पूछा जाये कि इस रागका कारण क्या है? तो कहेंगे यह जीव। यह स्वयं रोगी बना है और विशेष रूपसे कहा जाए तो पूर्वपर्यायसहित यह जीव उत्तरपर्यायका कारण होता है। तो यहाँ यह बात बतायी जा रही है कि द्रव्य और पर्यायमें जो भेद बताया गया है वह धर्मविवक्षासे है। जैसे जीवने राग किया तो बताओ जीव अलग है और राग अलग है क्या? जीव न हो और राग चल रहा हो ऐसा हो सकता है क्या? राग और जीव जिस समयमें राग हो रहा है एकमेक हैं और उनमें यदि भेद किया जाता है तो स्वभाव समझनेके लिए किया जाता है जो इस जीवमें इस समय इस प्रकारकी प्रकृति है। वास्तवमें तो इनमें भेद नहीं किया जा सकता। जीव है, अपनी परिणति बनाता है, भाव करता रहता, बात वह एक ही है। जिस समय जीव जैसी परिणतिमें होता

है उस समय वह तन्मय होता है। उसको भेदसे नहीं बता सकते हैं। तो इस तरह जब द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिसे कहते हैं तो कार्य और कारणमें एकपना है। वही जीव है, रागी हुआ है, और जब गुण गुणोका भेद करता है तो वहाँ भेद नजर आता है। सर्वथा भेद या सर्वथा अभेद कहना सिद्धान्तके विरुद्ध है।

जति वत्थुदो विभेदो पञ्जय-दव्वाण मणसेमूढ। तो णिरवेक्खा सिद्धी दोणहं पि य पावदे णियमा ॥ २४६ ॥

वस्तुके एकत्वका दर्शन—द्रव्यमें और पर्याय में, कारणमें और कार्यमें यदि वास्तवमें भेद मान लिया जाये तो दोनोंकी निरपेक्षता सिद्ध हो जायेगी। याने द्रव्य अलग चीज हुई पर्याय अलग चीज हुई। अब यह बतलाओ द्रव्यके बिना पर्यायका क्या स्वरूप रहा? याने जीव तो नहीं है और राग हो रहा है। अरे जीव ही तो रागमय बन रहा है। जीवको छोड़कर राग अन्यत्र कोई अलग वस्तु नहीं। यदि अलग हो जाये तो न रागका स्वरूप रहेगा और न जीवका स्वरूप रहेगा। जैसे मिट्टीसे घड़ा बना। अब मिट्टीसे बिल्कुल अलग मान लो घड़ा तो बतलाओ कि वह घड़ा अब मिट्टीके बिना बन गया। तो है क्या ऐसा कि जिसका कोई आधार न हो और वस्तु बन जाय? तो हममें जो रागादिक भाव हो रहे हैं उससे ही यह समझलो कि हम कोई वास्तवमें पदार्थ हैं और उसमें ये सब अवस्थायें चल रही हैं। देखो तत्त्वकी बात तो यह है कि अपने जैसा यथार्थ स्वरूप है वैसा समझ लेवें और उसपर दृष्टिपात करें तो इस जीवका कल्याण है। नहीं तो यह संसार है, जन्म-मरण चल रहा है।

अपनी संभालकी अत्यावश्यकता—भैया ! आज मनुष्य है, कल और किसी गतिमें जन्म ले लिया तो इन थोड़े दिनोंके आरामका क्या भरोसा करना? इससे क्या पूरा पड़ता? यदि हम अपने स्वरूपको जान लेते हैं और उसमें अपना उपयोग बसाते हैं तो ज्ञानमें ज्ञानकी एकता हो जानेसे कर्मबन्धन स्वयं टूट जायेगा। कर्मों का तोड़ना कोई बाहरी बहादुरीसे न बनेगा या भेद दृष्टिसे न बनेगा। जब खुद अपने स्वरूपमें मग्न हो जायें तो कर्म अपने आप झड़ेंगे। जैसे गीली धोतीमें रेत लग गया है तो उसको तब झिटक देनेसे रेत न खिरेगी, उस धोतीको धूपमें सुखा दिया जाये, उसमें गीलापन न रहे तो रेत अपने आप झड़ जायेगी। इसी तरह हममें जब कषायोंका गीलापन न रहे बाह्य पदार्थोंके प्रति स्नेह बुद्धि न रहे तो ये कर्म अपने आप झड़ जायेंगे। हमें कर्मबन्धनसे मुक्त होनेके लिए यही एक भीतरी उपाय करना है कि मैं अपने स्वरूपको जानूँ और उसही स्वरूपमें मग्न हो होऊँ। विश्वास करें कि मैं ही हूँ, मुझमें दूसरी चीज नहीं है। मुझमें यदि दूसरी चीज बसी हो तो मैं ही न रहूँगा। मैं स्वतंत्र हूँ, यह मेरा चैतन्यस्वरूप है, वह मैं उस ही रूप हूँ। मुझमें कोई दूसरी चीज नहीं आयी है। घर, दौलत, परिजन, मित्रजन आदि कुछ भी चीज मुझमें नहीं है। मैं सबसे निराला केवल चैतन्यमात्र हूँ, तो जब मैं सबसे न्यारा हूँ तो ऐसा मैं न्यारा ही रहूँ, ज्ञानमें भी मुझमें कोई दूसरी चीज मत आये। जिस ज्ञानमें ये ज्ञेय पदार्थ स्वतः आ जाते हैं उसकी बात नहीं कह रहे, किन्तु जहाँ हम आपके रागद्वेष चल रहा है वहाँकी बात कह रहे हैं कि बाहरी पदार्थ मुझमें मत आये, मैं अपने रूप ही रहूँगा और अपना कल्याण करूँगा, ऐसी भावना उपासना होनी चाहिए। तो इस ही भेदविज्ञानके लिए यह सब कथन चल रहा है कि मैं हूँ, मेरी परिणतियाँ किस तरह हैं, किस प्रकारका कार्य होता है? तो यद्यपि कार्यके होनेमें बाहरी बहुतसे पदार्थ निमित्त होते हैं फिर भी अन्तरङ्ग कारण तो मैं ही हूँ। मैंने अपनेको सम्हाला तो सब कुछ सम्हाल लिया और अगर अपनेको ना सम्हाल सके, बाहरी पदार्थोंकी सम्हालमें ही लगे रहे तो भले ही लाखोंकी सम्पदा उपस्थित हो जाये तो उससे लाभ क्या? प्रथम तो आपके यत्नसे सम्पदा नहीं आती। पुण्योदयका योग है कि उस विधिमें सम्पदा आ जाती है। और, भले ही कितना ही वैभव आपके पास

संचित हो जाए, फिर भी उससे आपके आत्माको कुछ शान्ति न मिल सकेगी। रही यह बात कि इस जीवनमें इतने लोगोंमें इज्जत तो है, पोजीशन तो बनी है। अरे लोग भी माया स्वरूप हैं, पोजीशन भी माया स्वरूप है, जिस देशमें हम आज हैं वह देश भी माया स्वरूप है। तो जैसे स्वप्नमें कोई किसीसे लड़ाई करे या राग करे तो वह केवल कल्पनाकी चीज है। रखा क्या है वहाँ? इसी तरह मोहकी नींदमें ये सब बातें बन रही हैं तो यह है क्या? एक स्वप्न जैसी चीज है। रखा कुछ तत्त्व नहीं है।

आत्महितका उपाय बनानेका अनुरोध अपने आपके स्वरूपका बोध करना और इस ही स्वरूपमें मग्न होना, इसका उपाय ढूँढो। बहुत-बहुत उपाय किया, बहुतोंको प्रसन्न करनेके लिए, बहुतोंमें अपना नाम रखनेके लिए, बहुतोंके अनुकूल चल-चलकर बहुत परिश्रम कर डाला भीतरी परेशानी कर डाली, अब जिसमें आत्महित हो ऐसा भी उपाय बनाना चाहिए। वह उपाय है आत्माका परिज्ञान करना। मैं आत्मा क्या हूँ? सबसे पहिले इतना निश्चय कर लीजिए कि मैं सबसे निराला ज्ञानमय पदार्थ हूँ। केवल ज्ञान प्रतिभास जानन यही स्वरूप है और वह अमूर्त है। उसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि नहीं है। आत्मा कोई मिट्टी जैसा पिण्ड नहीं है। वह तो आकाशकी तरह अमूर्त है, किन्तु ज्ञानमय पदार्थ है। कैसा विलक्षण है यह जीवतत्त्व? कैसा विशाल और अपनेमें सीमित केवल ज्ञानप्रतिभासे भरा हुआ अलौकिक तत्त्व है? इस निज स्वरूपको जानकर बाहरमें पदार्थोंसे आशा बना बनाकर परेशान हो रहे हैं। अब शान्तिधामको पाऊँ उपाय यह करना है और। इस ही सत्य बातमें उपयोग लगे, इसके लिए ही तो मंदिरमें आना होता है। मंदिरमें किसलिए आते? एक लोकपद्धतिसे, सभी लोग आते हैं तो समझिये, केवल इन ही बातोंसे अगर मंदिर आना होता है तो उसमें कौन-सा लाभ है? मंदिरमें इसलिए आते हैं कि हम बाहरके व्यर्थ असार झंझटोंमें बहुत उपयोग फंसा चुके, अब कुछ उससे अलग हटकर यहाँ स्वतत्त्वका अनुभव करना हैं, जिस उपायसे पूर्व महामुरुष कर्मबन्धनसे मुक्त हुए हैं उस उपायकी याद करनेके लिए मंदिरमें आते हैं, प्रभु पूजा करते, प्रभु दर्शन करते, स्वाध्याय करते। सभी जगह वस्तुस्वरूपका अभ्यास कर रहे हैं। मैं केवल चैतन्यमात्र हूँ। मैं केवल अपना ही परिणमन कर पाता हूँ किसी दूसरेका परिणमन नहीं कर सकता।

विषयोंके मौजमें अपनी बरबादी अभी तक दूसरे पदार्थोंका परिणमन अपने मनके अनुकूल करनेमें ही अनन्त समय बिता डाला, यह मोहका रोग इस मनुष्यभवसे ही तो नहीं है, सभी भवोंमें यह मोहका रोग रहा, पर उससे नफा कुछ न पाया। आज भी जिस मोहके समागम में रहे हैं उससे नफा कुछ न मिलेगा, टोटा ही हाथ लगेगा। इस प्रकारका एक सत्य ज्ञानप्रकाश अपनेमें जगे तो समझिये कि हमारा मनुष्यभव पाना सफल है अन्यथा तो पशु पक्षियोंकी भाँतिका ही अपना समझिये। जैसे गधा, सूकर आदिक पशु व मुर्गा-मुर्गी-कबूतर आदिक पक्षी विषयोंमें अपना मौज मानते हैं वैसे ही आप भी मौज मान रहे। फर्क तो कुछ न रहा। आप तो सोचते हैं कि इन पशुओंकी जिन्दगी भी क्या जिन्दगी है? पर अपने बारेमें नहीं सोचते कि यह मेरा विषयोंसे भरा जीवन भी क्या जीवन है? सभी संसारी जीवोंका प्रयोजन एक यही बना हुआ है विषयोंमें मौज मानना। जो प्रयोजन पशु पक्षियोंने बनाया वही प्रयोजन मनुष्योंने बनाया। आप सब मनुष्योंसे विषयोंका मौज लेनेमें कम नहीं हैं वे पशु पक्षी। हाँ आप जरा विशेष कलात्मक ढंगसे इन विषयोंका मौज ले रहे हैं। पर उन विषयोंका मौज लेकर जैसे वे पशु कुछ लाभ नहीं उठा पाते। ऐसे ही ये मनुष्य भी कुछ लाभ नहीं उठा पाते। यों विषयोंके मौजमें पशु पक्षियोंमें तथा मनुष्योंमें समानता ही रही।

श्रेष्ठ नरजीवन व जैनशासनसे अपूर्व लाभ उठानेकी सद्भावना तो सोचिये यह नरजन्म, यह जैनशासन एक ऐसा अपूर्व कल्याण कर जानेके लिए पाया है कि जिससे सदाके लिए संसारसंकट छूट जाये। यदि

यह न किया जा सके तो समझ लीजिए कि हम आप सबकी यह कितनी बड़ी गलती है। तो यहाँ उसी वस्तुस्वरूपका वर्णन चल रहा है कि मैं हूँ और मुझमें रागादिक अवस्थायें बनती हैं तो इन कार्योंके लिए कर्मोदय निमित्त है। बाहरी पदार्थ भी आश्रयभूत है, पर उपादान कारण तो मैं स्वयं हूँ। मेरेमें ही ये रागादिक हो रहे हैं, मेरी ही बेसुधी हो रहे है। अपनी सुध बन जाये तो ये रागादिक एकदम खत्म हो जायेंगे, दूर हो जायेंगे और समस्त संकट सदाके लिए मिट जायेंगे। संकट केवल राग और और मोहका है, वस्तुका संकट नहीं। कोई सोचता हो कि मेरे पास तो एक लाखकी ही सम्पत्ति है, इसमें तो परेशानी है, कष्ट भरा है, अमुक दूसरोंके पास तो देखो करोड़ोंका धन है मौजमें, लेकिन यह तो बताओ कि जिनके पास लाखकी तो बात क्या, हजार भी नहीं, कुछ सैकड़की जिनकी स्थिति है ऐसे पुरुष भी जीवन निर्वाह करते हैं या नहीं, बल्कि अधिक निःशल्य होकर जीवन बिता देते हैं। तो यहाँ कुछ हिसाबसे क्या कि कितना धन हो तो उसमें सुख मिलेगा अथवा धनी कहलायेंगे? अरे ये सब तो मोहजालकी बातें हैं, इसपद तो ध्यान ही न देना चाहिए। घरमें रहते हैं अतएव कर्तव्य है कि कुछ व्यापारका काम करें। अब जो उदयानुसार लाभ होता है बस वहीं पर्याप्त हैं, उसमें ही व्यवस्था बनाना हैं और उस हीमें व्यवस्थित रहकर धर्मको अपना सब कुछ रहा। तो जो भी अवस्था हो उस हीमें सन्तुष्ट रहें और धर्मको प्रधानरूप दें। मुझे सभ्यक्त्व लाभ करना है, सभ्यज्ञान करना हैं और सभ्यक्त्व लाभ द्वारा अपने आपमें अपनेको तृप्त बनाये रहना है, ऐसा किए बिना किसीका भी गुजारा न चलेगा।

**जदि सव्वमेव गाणं गाणा-रूवेहि संठिदं एक्कं।
तो ण वि किं पि विणेयं णेयेण विणा क्हं गाणं ॥ २४७ ॥**

ज्ञान त्व और अनन्त ज्ञेयतत्त्वोंका निर्देश वस्तुस्वरूपका वर्णन चल रहा है इस प्रसंगमें एक ज्ञानद्वैतवादी दार्शनिक कह रहा है कि जगतमें सिर्फ ज्ञान ही ज्ञान है और कोई पदार्थ नहीं है। जैसे स्वप्नमें यों निरखते हैं कि देखो यह बहुत बड़ा जंगल है, ये देखो बहुतसे पशु पक्षी हैं, तालाब है, झरना हैं आदि, तो वहाँ वस्तुतः हैं क्या? कुछ भी तो नहीं है। केवल कल्पनायें हैं, केवल प्रतिभास हैं। तो इसी तरह यहाँ भी केवल कल्पना हैं, केवल प्रतिभास हैं। धन वैभव, मकान आदिक जो भी पदार्थ विदित होते है वे सब मायाजाल है, मिथ्या है, अवस्तु है। केवल एक ज्ञान ही तत्त्व है, ऐसा एक दार्शनिकका सिद्धान्त है। उसके प्रति कह रहे हैं कि यदि ऐसा मानोगे कि सर्व जो नाना रूपोंमें दिख रहे हैं वह सब एक ज्ञान ही है, ऐसा माननेपर तो फिर कुछ भी ज्ञेय न रहा, कोई बाह्य पदार्थ न रहा। तो जब कोई ज्ञेय न रहा तो ज्ञान किसे कहोगे? ज्ञान नाम है जानने का। जब ज्ञानमें कोई पदार्थ आता ही नहीं है। पदार्थ है ही नहीं तो विषयभूत पदार्थका अभाव माननेपर ज्ञानका स्वरूप भी न बनेगा। इससे मानना चाहिए कि ज्ञानतत्त्व भी है और ज्ञेयतत्त्व भी है। ज्ञानतत्त्वमें तो आया यह मैं आत्मा जो जान रहा हूँ और ज्ञेयतत्त्वमें आया मुझ अपत्माको छोड़कर बाकी सब जीव और पुद्गल आदिक सर्व पदार्थ ये ज्ञेय तत्त्व कहलाते हैं। तो ज्ञानमें ज्ञेयतत्त्व विषयभूत होते हैं। ज्ञेय भी सही हैं और ज्ञान भी सही हैं। ज्ञेयके बिना नहीं सकता, इसलिए इन बाह्य पदार्थों कह सत्ता मानना ही चाहिए। और, भी सुनो

**घट-पड-जड-दव्वाणि हि णेय-सरूवाणि सुप्पसिद्धाणि।
गाणं जाणेदि जदो अप्पादो भिण्णरूपाणि ॥ २४८ ॥**

ज्ञान द्वारा आत्मासे अनेक पदार्थोंका परिज्ञान देखिये घट, कपड़ा आदिक जड़ हैं। ये ज्ञेय रूप हैं, इन्हें लोग जानते हैं, ये सब प्रसिद्ध हैं और ज्ञान इन्हें जानता है। तो ये आत्मासे भिन्न पदार्थ हैं ना? जानने वाला

तो मेरे आत्मामें अनुभूत हो रहा है। मैं यहां हूँ, यहाँ ही रहकर सब कुछ जानता हूँ और मुझसे बाहरमें जो पदार्थ पड़े हुए हैं, वे क्या अवस्तु हैं? वे सब सत् हैं। तो जिस कारणसे सब ज्ञेयरूप है, जानने योग्य जो हो उसे ज्ञेय कहते हैं। तो वह स्वरूप जहाँ पाया जाये वह सब ये पदार्थ हैं। तो इन प्रसिद्ध पदार्थोंका लोप कैसे किया जाये? ज्ञानस्वरूप मैं जीव हूँ और मुझसे भिन्न ये ज्ञेयपदार्थ हैं। तब यह एकान्त मत करो कि जगतमें अन्य कुछ नहीं हैं, सिर्फ ज्ञान ही ज्ञान है, और यदि केवल ज्ञान ही ज्ञान जगतमें होता तो यह बन्धन, यह जन्ममरण, ये फिर कहाँसे होते? मैं ज्ञानस्वरूप तत्त्व हूँ, किन्तु मेरे साथ अनन्त कर्मोंका बन्धन हैं। ये जड़ पदार्थ, ये ज्ञेय पदार्थ और बाहरी अनेक आश्रयभूत पदार्थ हैं, इनको असत्य नहीं कहा जा सकता। और, तब ही यह व्यवस्था बनी हुई है कि कर्मोदयका मित्त पाकर यह ज्ञानतत्त्व बिगड़ रहा है। ज्ञानतत्त्वकी संभालमें शुद्ध विकसित होता है।

**जं सव्व-लोय-सिद्धं देहं-गेहादि-बाहिरं अत्थं।
जो तं वि णाण मण्णदि ण मुण्णदि सो णाण-णामं पि ॥ २४९ ॥**

बाह्य अर्थोंको ज्ञानरूप मानने वालोंके ज्ञानस्वरूपका अनवबोध देखिये जिन्हें सारा लोक जानता है ऐसे शरीर, घर आदिक ये बाह्य अर्थ हैं, इनको यदि नहीं जान रहा है तो फिर ज्ञान नाम किसका है? ज्ञान ही सिद्ध न होगा। जिनका स्वरूप जानने योग्य है उन्हें तो ज्ञेय कहते हैं। सो ज्ञानसे बाहर जितने पदार्थ हैं वे सब ज्ञेयरूप हैं, ज्ञानरूप नहीं। उनको ज्ञानरूप जो कहते हैं वे तो ज्ञानका स्वरूप भी नहीं जानते। ज्ञानका उन्होंने नाम ही नहीं समझा। जैसे दर्पणमें सामनेकी चीज प्रतिभास्य तो हो जाती है, मगर वहाँ केवल दर्पण ही दर्पण है क्या? बाह्य पदार्थ नहीं है क्या? अगर बाह्य पदार्थ न हों तो उनका प्रतिभा भी सम्भव नहीं है। यह मानना चाहिए कि ज्ञानतत्त्व भी है और ज्ञेयतत्त्व भी है। इस तरह ज्ञानद्वैतवादियोंका निराकरण करके अब नास्तिकवादियोंकी बात कहते हैं।

**अच्छीहिं पिच्छमाणो जीवजीवादि-बहुविहं अत्थं।
जो भण्णदि णत्थि किंचिवि सो भुट्ठाणं महाभट्ठो ॥ २५० ॥**

आँखोंसे दिखते हुए भी पदार्थोंका नास्तित्व मानने वालोंकी असत्यताका दिग्दर्शन कुछ ऐसे भी दार्शनिक हैं कि आँखोंसे तो देख रहे हैं सर्व कुछ पदार्थ, मनुष्यादिक जीव हैं, घटादिक अजीव हैं और फिर भी यह कहते हैं कि कुछ भी नहीं है तो वे तो झूठोंके सिरताज हैं। नास्तिकवादी मुख्यतया यह मानते हैं कि कुछ भी नहीं है और ये चार्वाक नामके नास्तिक यह मानते हैं कि केवल भौतिक पदार्थ हैं। जीव नामका कोई तत्त्व नहीं है, और इसी सिद्धान्तपर उन्होंने प्रवृत्ति कर रखी है कि खूब मौजसे जियो, चाहे कर्ज भी लेना पड़े तो भी उसकी परवाह न करो, क्योंकि मरनेपर तो फिर यह जीव कुछ न रहेगा, लोग तो व्यर्थका यह डर दिखा रहे कि मरनेपर इसे कष्ट भोगना होगा, ऐसे भी कोई नास्तिक है। नास्तिक शब्दका अर्थ यह है जो है उसे न मानना, याने आस्तित्वका जो लोप करे उसे नास्तिक कहते हैं। वैसे तो लोग नास्तिकका अर्थ यह लगाने लगे कि जो मेरे धर्मको न माने वह नास्तिक है, काफिर है अथवा मिथ्यादृष्टि है। लेकिन नास्तिकका सही अर्थ यह नहीं है। नास्तिकका सही अर्थ यही है कि जो जैसा है उसे वैसा न माने, उससे उल्टी बात माने। जीवतत्त्व है, अनुभवमें आता है कि जीवन सुखी अथवा दुःखी होता है, ऐसा सुखी दुःखी हो सकने वाला जो पदार्थ है वही तो जीव है। क्या शरीर सुखी दुःखी होता है? ये बाहरी पदार्थ क्या सुखी होते हैं? सुख-दुःख माननेका जहाँ प्रसंग है उसीको तो जीव कहते हैं। अब उस जीवका सत्य स्वरूप समझें याने जबसे हैं तबसे वहाँ जो बात हुई, जब तक हैं, तब तक जो बात हुई वह जीवका स्वरूप है। जीव अनादिसे है, अनन्तकाल तक है। इस जीवमें ज्ञानस्वरूप सदा रहता है

ज्ञानस्वरूपका कभी भी अन्तर नहीं पड़ता। क्रोध करता हैं तब भी देखो ज्ञान हैं ना, तभी तो क्रोध जग रहा है। मान, माया, लोभ आदिक करें तब भी ज्ञान है, और यहाँ तक कि मदिरापन करके बेहोश भी हो जाये तो भले ही ऊपरसे ज्ञान नहीं मालूम होता,पर अन्दरमें कुछ न कुछ उसका प्रतिभास रहता ही है। कीड़ा-मकौड़ोंमें भी ज्ञान है और ये पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति रूप एकेन्द्रिय जीवोंमें ज्ञान रहता हैं। तो ज्ञान इस जीवका सहज स्वरूप है। ऐसे ज्ञानमय जीवतत्त्वको जो नहीं मानता वह असत्यवादियोंका सिरताज है।

जं सव्वं पि य संतं ता सो वि असंतओ कहां होदि।

णत्थि त्ति किंकिंचि तत्तो अहवा सुण्णं कहां मुणदि ॥ २५१ ॥

शून्यवादमें शून्य कहनेकी अनुपपत्ति—जगतमें जो कुछ भी पदार्थ हैं वे तो हैं ही। सभी लोग जानते हैं कि ये सब कुछ हैं फिर भी असत् कैसे जायेंगे? जो सत् है वह किसी भी प्रकारसे असत् नहीं बन सकता। है तो है ही। वह कभी भी असत् याने अवस्तु नहीं हो सकता, और दूसरी बात सुना। यदि कुछ नहीं है तो “शून्य है” यह भी कैसे कहा जायेगा? शून्य तत्त्व है कि नहीं? अगर शून्य तत्त्व नहीं है तब तो किसकी सिद्धि कर रहे हो और शून्य तत्त्व है तो कुछ तो है ना, फिर अभाव कैसे कहते हैं? कुछ भी नहीं है, ऐसा शून्य कैसे जाना जायेगा? स्वयं विद्यमान है तब तो वह शून्यको जाने जा रहा है, तो लो शून्यतत्त्वका समर्थन करने वाला भी तो एक सत् हुआ। तो सर्व जगत अवस्तु है, शून्य है, यह कहना अयुक्त है। लोकभावनामें लोकमें क्या क्या पदार्थ हैं, कैसी-कैसी रचनायें हैं? इन सब बातोंका वर्णन किया गया। और, कोई पुरुष ऐसा ही कहे कि कुछ है ही नहीं, अवस्तु है, वर्णन किसका कर रहे हो? तो उसका कहना प्रतीति विरुद्ध बात है।

जदि सव्वं पि असंतं ता सो वि य संतओ कहां भणदि।

णत्थि त्ति किं पि तच्चं अहवा सुण्णं कहां मुणदि ॥ २५१ ॥

शून्यवादमें शून्यको समझने व कहनेकी असंभवता—यदि समस्त पदार्थ असत् ही हैं तो जो जगतको शून्य कह रहा है वह पुरुष भी तो असत् ही रहा, अवस्तु रहा, कुछ न रहा, तो वह कैसे कह सकेगा कि कुछ भी नहीं है? और जब कुछ भी नहीं है तो इस शून्यको भी कैसे जानेगा? शून्यवादीका यह कहना है कि जो कुछ भी जगतमें दिखता है वह वास्तवमें इस रूप है ही नहीं। समस्त वस्तुवें मात्र असत् हैं। शून्यके सिवाय जगत और कुछ नहीं है, सब अवस्तु है तो यह तो महाझूठा पुरुष हुआ। और, फिर यह बतलाओ कि जब यह आग्रह कर लिया कि सब शून्य है, कुछ भी नहीं है तो ज्ञान भी न रहा, शब्द ही न रहा। तो जब ज्ञान रहा, ज्ञान भी अवस्तु बन गया तो फिर यह शून्यवादी कैसे जान लेगा कि सब कुछ शून्य है और जब शब्द भी असत् है शब्द भी कुछ न रहा तो यह शून्यवादी यह कैसे समझ लेगा, कैसे दूसरोंको समझा देगा कि वह शून्य है? तो समस्त जगत शून्य हुआ, इसका अर्थ है कि ज्ञान भी शून्य है, शब्द भी शून्य है, तब फिर न जान सकेंगे और न दूसरोंको समझा सकेंगे? स्पष्ट बात एक यह भी है कि जो यह कह रहा कि सब जगत शून्य है तो कहने वाला भी तो शून्य हो गया। अगर वह है तो शून्य कहाँ रहा सब? और यदि वह नहीं है, शून्य तो वह शून्यको कैसे जान लेगा कि जगतमें कुछ भी वस्तु नहीं है? तो इन सब आपतित्तयोंसे बचनेके लिए यह स्वीकार करना ही होगा कि जगतमें सर्वपदार्थ है और उन पदार्थोंकी ६ जातियाँ हैं जीव, मुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। और, प्रत्येक पदार्थमें अनन्त गुण है और पर्यायें होती हैं। तो इन गुण पर्यायोंकी व्यवस्था, वस्तुस्वरूपकी व्यवस्था मानना ही चाहिए। तब वस्तुका सही ज्ञान करनेका यत्न करें ताकि यह मोह मिटे, अज्ञान दूर हो और यह आत्मा अपने आनन्दके स्थानमें निरन्तर रमण कर जाये। यही एक कल्याणका उपाय है।

**किं बहुणा उत्तेण य जेत्तिय-मेत्तणि संति णामाणि ।
तेत्तिय-मेत्ता अत्था संति य णियमेण परमत्था ॥ २५२ ॥**

विविध नामों द्वारा विविध पदार्थोंके अस्तित्वकी सूचना—यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि बहुत कहनेसे क्या प्रयोजन है? यह निर्णय करलो कि जितने भी दुनियामें नाम हैं वे सब पदार्थ ही हैं। पदार्थ न हों तो नाम किसका रखा जाये? जितने भी शब्द हैं वे यह सूचना देते हैं कि इतनी तरहके पदार्थ हैं लोक में, और वे सब पदार्थ परमार्थभूत हैं और दिखते भी हैं। नाम जितने पाये जा रहे कपड़ा, वृक्ष, जल, कमल, घड़ी, देव, मनुष्य, नारकी, तिर्यच, हाथी, घोड़ा आदि जितने भी चेतन अचेतन वस्तुविषयक नाम हैं, वे सब नाम यही तो सिद्ध करते हैं कि ये सब पदार्थ हैं। यदि ये सब पदार्थ न होते तो इतने नाम कहाँसे बनाये जाते? पदार्थोंका परिचय करनेके लिए ही तो नाम रखा गया है। अब शंकाकार कहता है कि यदि यह नियम बनाते हो कि जितने नाम हैं उतने ही पदार्थ हैं तो बतलाओ खरविषाण भी तो एक नाम है। आकाशपुष्प भी तो एक नाम है। बंध्यापुत्र भी तो एक नाम है, पर ये चीजें तो नहीं पायी जातीं। तुम्हारे नियमके अनुसार तो ये चीजें भी पायी जाना चाहिए। पर बताओ ये कहाँ हैं? तो जितने नाम हैं उतने पदार्थ हैं, यह कहना ठीक नहीं बनता है। तो इसके समाधानमें शंकाकारसे निःशंक कहिये कि तुम्हारा (शंकाकार का) कहना ठीक नहीं। देखिये यह नियम बिल्कुल ठीक है कि दुनियामें जितने नाम हैं वह सब पदार्थ हैं। मगर आपने जो खरविषाण कहा, आकाशपुष्प कहा बंध्यापुत्र कहा तो ये कोई एक-एक शब्द तो नहीं हैं। इनमें दो दो शब्द हैं खर और विषाण, आकाश और पुष्प, बंध्या और पुत्र आदि। अब देखिये खर अर्थात् खरगोश तो कुछ होता ही है और विषाण अर्थात् सींग भी दुनियामें हुआ करते हैं, आकाश भी होता ही है और पुष्प भी होते हैं, बंध्या भी होती है और पुत्र भी होता है। तो देखिये यह बात कहाँ तक गलत रही कि जितने नाम दुनियामें होते हैं वे सब पदार्थ होते हैं? अब आप अटपट ही खरविषाण, आकाशपुष्प, बंध्यापुत्र आदिको एक एक शब्द मानकर तर्क करें तो यह तो कोई युक्त बात न रही। तो अब यह जानना कि जगत शून्य नहीं है, यहाँ पर सभी पदार्थ हैं और तभी उनके वाचक ये शब्द बताये गए हैं।

**णाणा धम्महि जुदं अप्पाणं तह परंपि णिच्छयदो ।
जं जाणेदि सजोगं तं णाणं भण्णदे समए ॥ २५३ ॥**

अनेकान्तस्वरूप स्वपरको जानने वाले ज्ञानकी समीचीनता—जो नाना धर्मोंसे युक्त अपनेको और नाना धर्मोंसे सहित अपने योग्य परपदार्थोंको जानता है उसको ही वास्तवमें ज्ञान कहते हैं। ज्ञान वही ज्ञान है जो अनेकान्तस्वरूप वस्तुको जानता है। यों जानने वाले तो बहुत हैं, संसारके सभी जीव जानते हैं, लेकिन उनका ज्ञान सही ज्ञान नहीं है, क्योंकि उनके ज्ञानमें स्याद्वाद पद्धतिसे वस्तुका ज्ञान नहीं बन रहा है। अनेकान्त वस्तुको जाने, और उसमें प्रथम बात यह है कि प्रत्येक पदार्थ उत्पादव्ययध्रौव्यसे युक्त हैं, पदार्थ शाश्वत रहकर भी निरन्तर नवीन अवस्था बनाता और पुरानी अवस्था विलीन करता है। और, यह उस वस्तुमें पड़ा ही है, द्रव्यत्व गुणके कारण निरन्तर परिणमन होता है। तो देखो अब मैं हूँ और जब मैं अपनेमें अपना परिणमन करता ही रहता हूँ। इसके आगे और कोई मेरा सम्बंध तो नहीं, किसी परपदार्थ से। सभी पदार्थोंकी यही प्रकृति है कि वे अपने अपनेमें अपने रूप परिणमन करते रहें। फिर बताओ कि किसी एक पदार्थका दूसरा पदार्थ क्या लग जाता है? कुछ भी तो सम्बंध नहीं। लेकिन इस तरह उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक पदार्थको नहीं मानते उनके ही तो मोह छा रहा है, अज्ञानदशा बन रही है।

यथार्थ पदार्थस्वरूपके परिचयमें आत्महितकी निहितता शब्दोंसे कह देने मात्रसे ज्ञान नहीं बनता। यदि कोई मनुष्य वस्तुतः यह स्वीकार कर लेता है कि प्रत्येक पदार्थ अपने उत्पादव्ययध्रौव्य धर्मसे युक्त है तो इसका अर्थ है कि सभी पदार्थ जब ऐसे हैं तो सर्व स्वतंत्र हैं। किसीकी सत्ता किसी दूसरेके आधीन नहीं है। ऐसा जब ज्ञान हो जाता तो वहाँ मोह (अज्ञान) न ठहर सकेगा। तो ज्ञान उसे ही कहते हैं जो अपनेको यों समझता है कि मैं अपनी अनन्तगुण पर्यायोंरूप हूँ। मेरा सब कुछ मुझमें ही चल रहा है, मेरा वैभव मेरा सत्त्व सब कुछ मुझमें ही है। मेरेसे बाहर मेरा अनुभव नहीं, परिणमन नहीं, कुछ भी तत्त्व नहीं। ऐसा जिसने अपनेको जाना उसका ज्ञान सही है। और जो अपने क्षयोपशमके योग्य बाह्य पदार्थोंको भी अनेकान्त रूपमें जान रहा है वह ज्ञान भी ज्ञान है। अपने योग्यका मतलब यह है कि यहाँ संसारमें जीव छद्मस्थ है, वे सर्व पदार्थोंको नहीं जान पाते, तो कुछ जान पाते, मगर जिसको भी जान रहे हैं उसको सही ढंगसे तो जानें कि ये स्वयं अपनेमें उत्पादव्ययध्रौव्यको लिए हुए हैं। तो जो नाना धर्मोंसे संयुक्त वस्तु तत्त्वकी मानता है उसका ज्ञान सम्यक्ज्ञान है। ज्ञानका लक्षण ही दर्शन शास्त्रमें ऐसा बताया है कि जो स्व और अपूर्व अर्थका निर्णय करे उसको ज्ञान कहते हैं। तो स्व कैसा है और अर्थ कैसा है, इसका भी तो ठीक निर्णय होना चाहिए। स्व है अर्थात् स्वयं आत्मा अथवा यह ज्ञान और पर हैं बाह्य समस्त पदार्थ। ये सब अनेकान्तस्वरूप हैं, इस विधिसे परिज्ञान करना समीचीन ज्ञान है।

जं सव्वं पि पयासदि दव्वं-पज्जाय संजुदं लोयं।

तह य अलोयं सव्वं तं णाणं सव्व-पच्चक्खं ॥ २५४ ॥

सकलप्रत्यक्ष ज्ञानका स्वरूप इस गाथामें सर्व प्रत्यक्ष अर्थात् केवल ज्ञानका स्वरूप बताया है। ज्ञानोंमें ज्ञान केवलज्ञान है। देखिये ज्ञानमें स्वभाव पड़ा है जानने का। पर उस स्वभावका वर्णन करने वाला, व्यक्त न होने देने वाला आवरण कर्म जीवके साथ है, इस कारण यद्यपि वह आवरण पूर्णतया ज्ञानको ढक नहीं सकता, तबभ्र्ती बहुत कुछ दबा हुआ है। आवरण यदि टल जाये तो ज्ञान कितना जानेगा इसकी कल्पना कर लीजिए। जब उसमें जानने का स्वभाव पड़ा है तो सीमा न बनायी जा सकेगी कि बस जान लिया, बहुत हो गया, अब न जानेगा। जो भी सत् है वह सब ज्ञानमें आ जाता है। भगवान अरहंत सिद्ध परमेष्ठीका यही तो महत्त्व है, उनका ज्ञान ऐसा निर्मल है कि सर्व लोकालोकका एक साथ स्पष्ट प्रतिभास हो रहा है। वहाँ रागद्वेष रंच भी नहीं है। किसी प्रकार का, कर्म का, शरीरका बंधन नहीं है इस कारण उनका ज्ञान समान रहता है और जो सत् है उसके केवल ज्ञातादृष्टा हैं। उनके किसी प्रकारके विकल्प नहीं उत्पन्न होते। जब कि यहाँ संसारी जीवोंमें ये दो ऐब लगे हुए हैं एक तो अज्ञानका सब कुछ जान नहीं सकते और इसी कारण जाननेकी इच्छा बनाते हैं पर जान नहीं पाते, और, दूसरा ऐब लगा है रागद्वेष का। कुछ अगर जान भी लिया तो उसीमें रागद्वेष वश इष्ट अथावा अनिष्टकी बुद्धि कर डालते हैं। यह मेरे लिए इष्ट है, यह मेरे लिए अनिष्ट है आदि। यदि वह जीव मात्र अपने आपके स्वरूपमें रमण करे, देखे, उसीमें तृप्त रहे तो इस जीवका सर्वकल्याण है मोही जीव यहाँ नहीं तकता, बाहरमें देखता, रागद्वेष लगे हुए हैं तो किसीको इष्ट मान लेना और किसीको अनिष्ट मान लेना तब द्विविधा और विडम्बनामें मोही जीव फंसे रहते हैं किन्तु भगवान अरहंत सिद्ध परमेष्ठीका ज्ञान निर्मल है, निरावरण है, वे समस्त लोकालोकको व त्रिकालवर्ती सब पदार्थोंको स्पष्ट जानते हैं।

काल और लोककी विशालताका परिचय यह लोक कितना बड़ा है, और काल कबसे कब तक है, इसको परखिये लोकका परिमाण बताया गया है ३४३ घनराजू प्रमाण तथा कालको बताया है अनादि अनन्त। एकराजू भी बहुत बड़ा होता है, जिसकी संख्यादि उपायसे कल्पना नहीं कर सकते कि कितने प्रमाण हैं। काल

अनादिनिधन है। उसके परिचयका भी अन्य कोई उपाय नहीं है इसलिए उसको उपमा प्रमाणसे बताया गया है। काल कितना बड़ा है यह जाननेके लिए पहिले सागरको जानें। सागरका प्रमाण बताया है पल्यके आधारसे तो पहिले पल्य समझें। पल्यका अर्थ गढ़ा होता है।

उपमाप्रमाणमें ऐसे गड्ढेकी कल्पना करें जो दो हजार कोशका लम्बा, चौड़ा, गहरा गड्ढा हो। इतना बड़ा गड्ढा किया नहीं जा सकता, लेकिन काल जब है और उसका प्रारम्भ व अन्त नहीं बताया जा सकता तो वह इतना बड़ा हो सकता है कि जो संख्यासे दूर है, उसको समझनेके लिए उपमाके द्वारा बताया गया है। इतने बड़े गड्ढेमें बालोंके इतने छोटे-छोटे टुकड़े जिनका कैंचीसे दूसरा टुकड़ा न बन सके ऐसे रोम भर दिए जायें और वे रोम बहुत ही कोमल हों और उन्हें ठसाठस भर दिया जाये। मानो, उनपर हाथी घुमा दिया जाये ताकि रोम ठसाठस भरें। अब प्रत्येक १०० वर्षके बादमें रोमका एक एक टुकड़ा निकाला जाये तो सारे रोम जितने वर्षोंमें निकल सकें उसका नाम है व्यवहार पल्य। और उससे असंख्यात गुना होता है उद्धारपल्य, उससे असंख्यात गुना अद्भापल्य। एक करोड़ अद्भापल्यमें एक करोड़ अद्भापल्यका गुणा किया जाये उसे कहते हैं एक कोड़ाकोड़ी अद्भापल्य। ऐसे १० कोड़ाकोड़ी अद्भापल्योंका नाम है एक सागर। एक २० कोड़ाकोड़ी सागरका एक कल्पकाल होता है। ऐसे अनन्त कल्पकाल व्यतीत हुए और होंगे। स्पष्ट बात यह है कि समयका न आदि हैं न अन्त है। यों काल अनादि अनन्त है। अब लोक ३४३ घनराजू प्रमाण हैं इसको समझनेके लिए कोश व योजनसे चलें। देखिये दो हजार कोशका एक योजन होता है। ऐसे एक लाख योजन प्रमाण जम्बूद्वीप है, जिसमें ७ क्षेत्र हैं, बीच विदेह क्षेत्र है, जहाँ सदा तीर्थकर होते हैं। मुनिजन भी मोक्ष जाते रहते हैं। उस जम्बूद्वीपसे दूना है एक तरफ समुद्र। समुद्र जम्बूद्वीपके चारों ओर है। (एक एक तरफकी बात कह रहे हैं उससे दूना हैं दूसरा द्वीप एक तरफ, उससे दूना हैं दूसरा समुद्र एक तरफ, उससे दूना है तीसरा द्वीप एक तरफ। इस तरह द्वीपके बाद समुद्र, समुद्रके बाद द्वीप, यों असंख्याते द्वीप, समुद्र पड़े हुए हैं और वे एक दूसरेसे दूने-दूने हैं। तो सारे द्वीप समुद्र जो अनगिनते हैं वे जितनी जगह घेरें वह एम राजू भी पूरा नहीं होता। और यह तो प्रतर राजू है। एक राजू लम्बा, एक राजू चौड़ा, एक राजू मोटा इतनेको कहते हैं एक घनराजू। ऐसे ३४३ घनराजू प्रमाण यह लोक है।

काल और लोककी विशालताके परिचयका लाभ—यदि इस लोकके विस्तारको ही जानने लगे तो मोह मिटनेका अवसर यहाँ भी मिल जाता है कि अरे इतना बड़ा लोक है, इस लोकके सामने जहाँ हम आम आज पैदा हैं या परिचय है वह कितना बड़ा है, क्या चीज है? समुद्रके सामने एक बिन्दु बराबर भी नहीं हैं। तो इतनी सी जगहमें मोह बनाकर, कल्पनायें बनाकर अपने ऐसे अद्भुत परमवैभवसम्पन्न आत्माकी बरबादीकी जा रही है, यह क्या कोई विवेक है? कालका प्रमाण जब उपयोगमें आता है कि काल अनादि अनन्त है और ये जीव भी अनादि अनन्त है। तो अनादि कालसे यह जीव पर्यायें धारण करता आया है। अनन्तकाल तक यह जीव रहेगा तो कितना काल व्यतीत हो गया? उसके सामने यह १००-५० वर्षका जीवन कुछ गिनती भी रखता है क्या? कुछ भी तो गिनती नहीं रखता। इतनी सी देरके लिए परिजनों में, कुटुम्ब में, वैभवमें उपयोग दे देकर, उन्हें अपना मान मानकर यह जीवन गुजार दिया जाता है, इससे इस जीवको कुछ लाभ मिलेगा क्या? केवल बरबादी ही मिलेगी। मगर मोहवश यह जीव अपनी इस कुटेवको नहीं छोड़ सकता, उस ज्ञानका आदर नहीं कर सकता, जो उसका परमवैभव है।

सकल प्रत्यक्षज्ञानकी महिमा—लोक कितना बड़ा, काल कितना बड़ा? इस लोकमें पदार्थ कितने हैं? अनन्त। और प्रत्येक पदार्थमें अनन्त गुण हैं, उनकी अनन्त पर्यायें हैं। ऐसे अनन्त सब पदार्थोंको केवल ज्ञानी एक

साथ स्पष्ट जानता है और देखता है। वह ज्ञान क्षायिक है। कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न हुआ है। वह ज्ञान अनुपम है, अनन्त है, सदा यह ज्ञान ऐसा चलता रहेगा, उसका कभी विनाश न होगा। यह ज्ञान तीन कालके समस्त अर्थोंको एक साथ प्रकट जानता है। शाश्वत सहज आनन्दका धाम है। कोई पुरुष केवल ज्ञान ही ज्ञान करता रहे, ज्ञाता दृष्टा रहे तो यहाँ भी वह अद्भुत आनन्दको प्राप्त कर लेता है और जो परमेष्ठी अरहंतदेव सिद्ध भगवान निरन्तर ज्ञाता दृष्टा मात्र रहते हैं और ऐसे विशुद्ध ज्ञाता दृष्टा कि जहाँ समस्त पदार्थ एक साथ प्रतिबिम्बित हो रहे हैं ऐसे अपूर्व ज्ञातादृष्टा प्रभुका आनन्द कैसा होगा? तो वह अनन्त आनन्द है। तो ऐसे अनन्त आनन्दके स्थानभूत में केवलज्ञानको सत्त् प्रणाम करता हूँ। देखिये ध्येय तो जीवनमें कुछ होना चाहिए। क्या धन कमाते रहना ही ध्येय बनानेसे कुछ तत्त्व मिलेगा? देखते हैं कि सभी लोग परभवमें भी क्या उठाया जायेगा? कोई साथी न होगा? केवल जो पाप कमाया है उस पापका फल ही भोगना होगा। तो इस लोकमें अपना उद्धार करनेके लिए अपना क्या कर्तव्य है, इसपर ध्यान दें। मेरा भविष्य शान्तिमय कैसे व्यतीत हो, इसपर भी तो कुछ विचार करें। अभी तक तो दुःख प्राप्त करनेके ही उपाय बनाये जाते रहे। जहाँ सही ज्ञान नहीं बन रहा वहाँ अभी भी दुःख ही है और भविष्यमें भी दुःख ही मिलेगा। तो अपनेको कुछ चेतना चाहिए और सत्यज्ञानका आदर करना चाहिए।

सर्वं जाणदि जम्हा सर्व-गयं तं पि वुच्चदे तम्हा ।

ण य पुण विसरदि णाणं जीवं चइऊण अण्णत्थ ॥ २५५ ॥

आत्मप्रदेशस्थ होकर ही ज्ञानद्वारा सर्वज्ञेयोंकी परिज्ञान प्रभुका केवलज्ञान चूँकि समस्त लोकालोकको जानता है, सर्वपदार्थोंको जानता है। इस दृष्टिसे उसे सर्वगत कहा है, अर्थात् समस्त लोकालोकमें व्यापक बताया गया है। ज्ञानको व्यापक बताया गया है। लेकिन वह ज्ञान परमार्थतः अपने जीवस्वरूपको छोड़कर अन्य जगह नहीं फैलता है। यहाँ भी हम आप लोगोंका ज्ञान आत्मामें ही तो है और आत्माके प्रदेशोंमें रहता हुआ ही यह ज्ञान कितनी दूर तककी चीजोंको जानता है? तो एक दृष्टिसे यह कहा जायेगा कि हमारा ज्ञान इतने कोशों तक फैला हुआ है, और एक दृष्टिसे यह कहा जायेगा कि हमारा ज्ञान तो हमारे आत्मामें ही रह रहा है, बाहर कहीं नहीं फैलता। तो जिस कारणसे केवलज्ञान समस्त द्रव्य गुण पर्याय सहित लोक अलोकको जानता है इस कारण उसे सर्वगत कहा है। कोई दार्शनिक ऐसे भी हैं जो यह मानते हैं कि ज्ञान जो है वह ज्ञेय पदार्थके प्रदेशोंमें जा जाकर प्रत्यक्षरूपसे जानता है तो वह ज्ञेय प्रदेशोंमें किस प्रकार जाता है, उसकी विधि वे बतलाते हैं कि संयोगसे जाता है, और समवायसे जाता है संयोगसमवाय सम्बंधके अनेक भेदों रूप सन्निकर्षोंके द्वारा यह ज्ञान ज्ञेय पदार्थोंके प्रदेशोंमें जाता है। जैसे वे मानते हैं कि आँख पदार्थमें जाती है। आँखकी किरण गई तो वह भी तो आँख है, तो ऐसे ही मानते हैं कि ज्ञान ज्ञेय पदार्थोंके पास पहुंच-पहुंचकर जानता है, लेकिन यह युक्त बात नहीं है, क्योंकि ज्ञान जीवको छोड़कर अन्य ज्ञेयप्रदेशोंमें नहीं फैलता, वहाँ नहीं जाता, किन्तु अपने आत्मप्रदेशोंमें ही रहता हुआ समस्त लोकालोकको जानता है।

णाणं ण जादि णेयं णेयं पि ण जादि णाण-देसम्मि ।

णिय-णिय-देस-ठियाणं ववहारो णाण-णेयाणं ॥ २५६ ॥

ज्ञानका ज्ञेयमें व ज्ञेयका ज्ञानमें गमन न होकर भी निज-निज प्रदेशमें रहने वाले ज्ञान और ज्ञेयोंका व्यवहार ज्ञान ज्ञेयपदार्थोंके पास नहीं जाता और ज्ञेयपदार्थ भी ज्ञानके प्रदेश में नहीं आते हैं। पदार्थ अपनी ही जगह ठहरा है, ज्ञान अपने ही धाम में ठहरा है, पर ज्ञान हो रहा, जानन हो रहा इस कारण ज्ञान और ज्ञेयका

व्यवहार चलता है। कुछ दार्शनिक ऐसे भी हैं कि जो ज्ञानमें पदार्थोंका जानना मानते हैं। पदार्थ ज्ञानमें पहुँचते हैं, वे अपना आकार सौंपते हैं तब ज्ञान जानता है। तो न इस तरह ज्ञेय ज्ञानमें जाता है और न ज्ञान ज्ञेयमें जाता है, दोनों अपने ही अपने प्रदेशोंमें ठहरे हुए हैं, किन्तु जाननेका काम है ज्ञानका और जानना होता है ज्ञेय का। इसी रूपको लेकर ज्ञान और ज्ञेयका व्यवहार चलता है। जो जाने सो ज्ञान, और जो जान जाये सो ज्ञेय कहलाता है। ज्ञान ज्ञेयमें नहीं जाता, ज्ञेय ज्ञानमें नहीं जाता।

दृष्टान्तपूर्वक ज्ञानका ज्ञेयमें आगमन व ज्ञेयका ज्ञानमें आगमनकी सिद्धि—ज्ञान ज्ञेयको जानकर भी ज्ञेयमें नहीं जाता इसकी सिद्धिके लिये दर्पणका दृष्टान्त भी लिया जा सकता है। जैसे दर्पणमें अनेक पदार्थोंका प्रतिबिम्ब आता है, किन्तु पदार्थ उस दर्पणमें नहीं घुस जाते, और दर्पण भी उन पदार्थोंमें नहीं जाता। दर्पण, दर्पणकी जगह है और वे पदार्थ, पदार्थकी जगह है, पर उस दर्पणमें ऐसा ही स्वभाव है कि जो भी चीज सामने हो उसको प्रतिबिम्बित कर लेता है। तो यह दर्पणका और पदार्थोंका ऐसा स्वभाव है। पदार्थ अपना आकार समिर्पित करते हैं और दर्पण उनका आकार ग्रहण करता है, यह व्यवहारसे कहा जाता है। वस्तुतः दर्पण न पदार्थमें कुछ करता और न पदार्थ दर्पणों कुछ करता। सबका अपने-अपने स्वभावसे परिणमन होता रहता है। ज्ञान ज्ञेयमें नहीं जाता, ज्ञेय ज्ञानमें नहीं आते। इसके लिए एक नेत्रका भी दृष्टान्त ले सकते हैं जैसे नेत्रों द्वारा पदार्थ दिख जाते हैं, पर नेत्र कहीं पदार्थोंके पास जाकर उन्हें देखते, और पदार्थ भी आँखों के पास आ आकर नहीं दिखनेमें आते। पदार्थ पदार्थकी जगह है, आँख आँखकी जगह है। वे सब अपने अपने प्रदेशमें हैं। ये आँखें अपनी जगह रहते हुए अनेक पदार्थोंको देख लेती हैं। इसी तरह ज्ञान आत्मप्रदेशोंमें ही रहता है और ये पदार्थ अपने प्रदेशोंमें ही रहते हैं, पर स्वभाव है ऐसा ज्ञान में कि अपने ही प्रदेशोंमें रहता हुआ वह ज्ञान इन बाह्यपदार्थोंको जान लेता है। लोग कहते क्यों हैं ऐसा कि ज्ञान ज्ञेयमें गया, वह व्यवहार बनाते हैं, तो यह कुछ रूपक समझ कर बना है। जैसे दूधमें एक नीलमणि डाल दी जाये तो सारा दूध नीला हो जाता है। तो नील उस सारे दूधमें व्याप हो गया ऐसा लोग कहते हैं, पर नीलमणि तो जितनी है उतनी ही है, वह तो उस सारे दूधमें फैली नहीं है, लेकिन उस नीलमणिका सन्निधान पाकर समस्त दूधमें नीलेपनका प्रतिभास हुआ है। अतः व्यवहारसे यह कहा जाता कि यह नीलमणि सारे दूधमें फैल गई है, इसी तरह ज्ञान ज्ञेयमें जाता तो नहीं है पर जान लेता है बहुत दूरवर्ती पदार्थों को, तो उन दूरवर्ती पदार्थों जान लेनेके कारण यह व्यवहार हुआ है कि ज्ञान ज्ञेयमें जाता है। वस्तुतः जैसे नीलमणि दूधमें व्यापक नहीं। दूध दूधमें है, नीलमणि नीलमें है, इसी प्रकार ज्ञान ज्ञानमें ही है, और पदार्थ पदार्थमें ही है, फिर भी ऐसा ज्ञान ज्ञेयका सम्बन्ध है कि अपने ही प्रदेशोंमें रहते हुए यह ज्ञान पदार्थोंको जान लेता है।

लोकभावनामें वर्णित विषयसे आत्महितके लिये शिक्षा—लोकभावनामें समस्त द्रव्योंका वर्णन किया जा रहा है। तो उस वर्णनसे हमें क्या निरखना है? तो मूल बात यह निरखना है कि प्रत्येक द्रव्य अपना-अपना उत्पादव्ययध्रौव्य स्वभाव लिए हुए है अतएव कोई किसीके आधीन नहीं है। किसीकी सत्ता किसी दूसरे पदार्थकी कृपासे नहीं है। यह जाननेसे मोह दूर होता है। साथ ही जो लोकभावनामें जीवकी नाना योनियोंका वर्णन किया है, उस वर्णनसे वैराग्यको सहयोग मिलता है कि देखो जीवकी अज्ञानदशामें रहनेके कारण कैसी-कैसी परिस्थितियाँ होती हैं, कैसे-कैसे जन्म धारण करने पड़ते हैं? तो यहाँ बनाया जा रहा है कि यह आत्मा ज्ञानमय है, वह अपने आपमें ही है, ये पदार्थ ज्ञेय है अपनी जगह हैं। इन पदार्थोंमें आत्मा नहीं प्रवेश करता, आत्मामें ये पदार्थ प्रवेश नहीं करते, किन्तु आत्मा अपने आपमें रहता हुआ इन पदार्थोंको जान लेता है।

**मण-पज्जय-विण्णाणं ओही-णाणं च देस-पच्चक्खं ।
मदि-सुदि-णाणं कमसो विसद-परोक्खं च ॥ २५७ ॥**

मनःपर्ययज्ञानका विवरण—ज्ञानके भेद ५ बताये गए हैं मतिज्ञान श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवल ज्ञान। तो इसमें सर्वप्रथम केवलज्ञानका वर्णन किया गया है, क्योंकि वह सर्वोकृष्ट है और पूज्य है। अब केवलज्ञानके वर्णनके बाद मनःपर्ययज्ञानका स्वरूप दिखा रहे हैं। मनःपर्ययज्ञान भी ऋद्धीश्वर संयमी साधुवोंके हो सकता है, इस कारण शेष ज्ञानोंकी अपेक्षा यह पूज्य ज्ञान है। मनःपर्ययज्ञानका अर्थ है कि दूसरेके मनमें ठहरे हुए पदार्थका और उसके विचारका ज्ञान कर लेना। मनःपर्यय ज्ञान दो प्रकारका होता है ऋजुमति और विलुमति। ऋजुमति मतःपर्ययज्ञान तो सरल दिल वालोंकी बातको समझता है किन्तु विपुलमति मन-पर्ययज्ञान तो कोई कैसा ही मायाचारी पुरुष हो, कितने ही कठोर दिलका हो, उसके भी भावको समझ जाता है। इसी कारण विपुलमति मनःपर्ययज्ञानकी महिमा अधिक बतायी गई है, क्योंकि उस ज्ञानमें शक्ति, योग्यता विशेष है और, कहा गया है सिद्धान्तमें जिसे विपुलमति मनःपर्ययज्ञान होता है वह नियमसे उसी भवसे मोक्ष जाता है।

अवधिज्ञानका विवरण—अवधिज्ञान जिसकी हृद की गई हो, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे जो मर्यादा रूपमें हो उसे अवधिज्ञान कहते हैं। अथवा जो नीचे तो बहुत दूर तककी बात जाने और ऊपर कम दूर तककी बात जाने उसे अवधिज्ञान कहते हैं। अवधिज्ञान जानता तो है चारों ओरकी बातों को, फिर भी अवधिज्ञानमें ऐसी प्रकृति है कि नीचेके क्षेत्रमें तो बहुत दूर तककी बात जानेगा और ऊपर कुछ कम दूरी तककी बात जानेगा तो उसे अवधिज्ञान कहते हैं जो इन्द्रिय और मनकी सहायताके बिना केवल आत्मीय शक्ति से इन रूपी पदार्थोंको जानता है याने अवधिज्ञान पुद्गलको तो जानेगा पर जीवके भावोंको न जानेगा। कभी कभी सभ्यवत्वका अनुमान भी किया जाता है अवधिज्ञानके माध्यमसे तो वहाँ अवधिज्ञानने किसीका सभ्यवत्व नहीं जाना किन्तु उस आत्मामें किन कर्मोंका उपशम क्षयोपशम है। यह जान लिया, क्योंकि कर्म हैं रूपी, फिर उस ज्ञानके माध्यमसे सभ्यवत्वका भी अनुमान किया जाता है। अवधिज्ञान तीन प्रकारका होता है देशावधि, परमाधि और सर्वावधि। इनमें परमावधि और सर्वावधि ज्ञान तो उत्कृष्ट ज्ञान है। ऐसा अवधिज्ञानी पुरुष नियमसे मोक्ष जाता है। पर देशावधि ज्ञान एक दो अवधिज्ञानको कहते हैं। यह देशावधि ज्ञान चारों गतियोंके जीवोंमें उत्पन्न हो सकता है लेकिन परमावधि और सर्वावधि ज्ञान केवल संयमी साधुवोंके ही हो सकता है। सो ये दोनों ज्ञान (मनःपर्ययज्ञान और अवधिज्ञान) एक देशप्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष ज्ञान तीन तरहके बताये गए हैं अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। तो केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष हैं। कोई भी पदार्थ जाननेसे नहीं बचा। समस्त संतोंको केवलज्ञानीने जान लिया, किन्तु मनःपर्ययज्ञानका विषय अल्प हैं, अवधिज्ञानका भी अल्प हैं, सर्व नहीं है, इस कारण इसे देशप्रत्यक्ष कहते हैं।

महिम ज्ञान प्राप्त न होनेका कारण—ज्ञानकी यह महिमा हम सब जीवों में स्वभावतः पड़ी हुई है। लेकिन जब अपनी सुध नहीं रखते हैं और अपने अपने आपके चैतन्यस्वरूपमें मग्न होना हमारा एक काम है, यह बुद्धि नहीं रखते तो बाहर बाहर उपयोग घूमता है, ऐसी स्थितिमें हम आपका ज्ञान इन सर्व महिमाओं को प्राप्त नहीं कर पाता। इस जगतमें सार कहाँ दिख रहा है? देहको कितना ही पुष्ट करो आखिर यह अन्तमें जला दिया जायेगा। मरण हो जानेके बाद फिर इससे कौन प्रीति करेगा? धन वैभव कितना ही जोड़ लिया जाये, आखिर उन परपदार्थोंमें उपयोग रहनेसे इस आत्माको कहाँ अपनी सुध रहती है? सोचिये कितना हम आप अपने आपपर अन्याय कर रहे हैं? इस अन्याय करनेका फल यही है कि हम आपको इस संसारमें रुलना पड़ रहा है लोकमें

कितनी ही इज्जत प्रतिष्ठा बना लिया तो उससे जीवने कौनसा लाभा पा लिया? थोड़े दिनोंका जीवन है। यहाँसे मरकर किसी निम्नगतिमें पैदा हो गए तो फिर क्या हाल होगा? यहाँकी इज्जत प्रतिष्ठासे इस जीवको कोई शान्ति है क्या? जगतमें सार कुछ नहीं है? केवल एक सारभूत काम यहां यह है कि हम अपने स्वरूपका परिज्ञान करें। मैं सबसे निराला चैतन्यस्वरूपमात्र हूँ और ऐसा ही जान-जानकर, यहाँ ही दृढ़तासे अपनी दृष्टि जमाकर अनुभव करें कि मैं ज्ञानमात्र हूँ। कोई विकल्प न रहे, ज्ञानमें ज्ञानस्वरूप समा जाये, यह उपयोग ज्ञानमें आ जाये, ऐसी अनुभूति बनायें, यही तो केवल एक सारभूत बात है। अतिरिक्त अन्य कुछ सारभूत बात नहीं है।

परोक्ष ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञानका वर्णन करके अब परोक्षज्ञानका वर्णन करते हैं। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दो परोक्षज्ञान कहलाते हैं। मति, श्रुत, ज्ञान सभी जीवोंके हुआ करते हैं। यह चर्चा अपने स्वरूपकी है इस कारण ध्यानपूर्वक इसे सुनना है और मनन करना है। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ और इस ज्ञानस्वरूप मुझ आत्माके ज्ञानका किस-किस रूपमें कब विकास होता है, उसकी यह चर्चा है। मतिज्ञान उसे कहते हैं जो इन्द्रिय और मनसे पदार्थोंको जानता है, मतिज्ञानमें परोक्षता भी है। और सांख्यवहारिक प्रत्यक्षता भी है। जैसे लोग कहते हैं कि हमने प्रत्यक्ष देखा, हमने प्रत्यक्ष सुना आदि, तो वहाँ मालूम होता है कि हम कुछ स्पष्ट ही तो जान रहे हैं। इसे कहते हैं सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष। किन्तु, इन्द्रिय और मनकी आधी तासे जाना ना इस कारण वास्तवमें परोक्ष है यह। श्रुतज्ञान परीक्षा ही है। शब्दों द्वारा जाना या मतिज्ञानसे जाने हुए पदार्थोंको और विशेषरूपसे जाना, ये सब परोक्षज्ञान कहलाते हैं। ये सभी ज्ञान अपने प्रदेशोंमें रहकर ही इन बाह्यपदार्थोंको जानते हैं।

भेदविज्ञानकी शरण्यता देखिये भेदविज्ञान ही हम आप लोगोंके लिए सहारा है। भेद विज्ञानमें समझता यह है कि मैं पीपदार्थों से निराला हूँ, मैं किसी भी परपदार्थका कोई काम नहीं करता हूँ। जब राग करता हूँ तो किसी जीवपर राग नहीं करता, किन्तु अपने आपमें से परिणति बनाता रहता हूँ, और उस राग परिणतिके बननेका नियम ऐसा ही है कि वहाँ कोई विषयभूत होता है। तो दूसरेका नाम ले लेकर, दूसरेको अपने उपयोगमें लाकर राग किया करता है। राग किसी जीवपर कोई नहीं करता है। रागकी तो बात क्या कहे, ज्ञानकी बात जब यहाँ ऐसी दिखाई गई है। कि कोई भी मनुष्य इन बाह्यपदार्थोंको जान रहा है? अब ज्ञानमें विषय आये बाह्यपदार्थ और जाना निश्चयसे अपने आपको ही, वहाँ बाह्यपदार्थ विषयभूत हुए, इस कारण व्यवहारसे कहा जायेगा कि ज्ञानने बाह्यपदार्थोंको जाना, पर परमार्थतः ज्ञान अपनेको ही जानता है। तो जब मेरे ज्ञानका ही सम्बन्ध बाह्यपदार्थोंमें कार्य करनेका नहीं है तब अन्य क्रिया की तो बात ही क्या है? यह सब जानकर एक बार भी साहस करके समस्त बाह्यपदार्थोंसे उपेक्षा कर, अपनेमें आराम लें, विश्राम करें, विकल्प हटायें तो स्वतः अपने आपमें वह ज्ञान प्रकाश उदित होता है, वह अनुभव बनता है जिसे ज्ञानानुभव कहते हैं। ज्ञानानुभूतिके प्रतापसे यह जीव कर्मोंके बन्धनको नष्ट कर देता है।

इन्द्रियजं मदि-णाणं जोग्गं जाणेदि पुग्गलं दव्वं।

माणस-णाणं च पुणो सुय-विसयं अक्ख-विसयं च ॥ २५८ ॥

मतिज्ञान व श्रुतज्ञानसे जाननेकी पद्धति अब मतिज्ञान और श्रुतज्ञान किस प्रकारसे जानते हैं? इसका इस गाथामें वर्णन किया है। इन्द्रियसे उत्पन्न होने वाला मतिज्ञान अपने योग्य पुद्गल द्रव्यको जानता है। स्पर्शन इन्द्रियसे स्पर्श जाना जाता, रसनाइन्द्रियसे पदार्थोंका रस जाना जाता, घ्राणइन्द्रियसे गंध, चक्षुइन्द्रियसे रूप और कर्णइन्द्रियसे शब्द जाने जाते हैं। तो इन इन्द्रियों द्वारा जो कुछ जाना जाता वह अपने योग्यको ही जान सकता है,

सबको नहीं जान सकता। जितना क्षयोपशम है, जो पदार्थ सामने है, जहाँ तक समझ सकनेकी इन्द्रियोंमें सामर्थ्य है बस उस रूपसे पदार्थको जाना पाता है। मतिज्ञान मनसे भी उत्पन्न होता है और मानस ज्ञान श्रुतका भी विषय करता है और इन्द्रियके विषयको भी विषय करता है। इस तरह मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों परोक्षज्ञान बताये गए हैं। मतिज्ञानसे हम जब किसी पदार्थको जानते हैं ना, पहिले सामान्य ज्ञान होता है, फिर उसका कुछ और विशेष ज्ञान होता है, फिर उसमें निश्चय होता, और फिर हम उसे कभी भूल न सकें ऐसी धारणा हो जाती है। ये मतिज्ञानके ही भेद हैं, जिसे सिद्धान्तमें कहा है अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। जैसे ज्यों ही नेत्र खुले त्यों ही सर्वप्रथम कुछ प्रतिभास हुआ कि चीज है। उससे बाद जाना कि यह तो भीत होनी चाहिए, फिर यह भीत ही है ऐसी धारणा हो गई। किसी भी नवीन पदार्थको जब जानने चलते हैं जिसे कि अभी तक नहीं जाना वहाँ इन चार भेदोंकी बात भली प्रकार विदित हो जाती है। यहाँ चूँकि अभ्यास है, रोज-रोज इन बातोंको निरखते हैं तो यह पता नहीं पड़ता कि यह अवग्रह है, यह ईहा है, यह अवाय है और यह धारणा है। जानते हैं हम इसी विधि से। और, यह ज्ञान इन्द्रिय द्वारा उत्पन्न होता है।

मतिज्ञान द्वारा बारह प्रकारके अर्थोंका ज्ञान—मतिज्ञान बारह प्रकारके अर्थोंको जानता है। कभी तो बहुज्ञान होता है। बहुतसी चीजोंका एक साथ ज्ञान हो जाता है। जैसे बन देखा तो बहुतसे वृक्षोंका समूह हो तो बन है। बहुतसी चीजोंका ज्ञान हो गया। उसी बनमें जब यों देखा कि यह आम है, यह इमली है, यह केला है आदिक। तो यह बहुत प्रकारके वृक्षोंका ज्ञान हुआ सो यों बहुविधज्ञान होता है। कभी जल्दी चलते हुए पदार्थोंका ज्ञान होता, निःसृत हुए पदार्थोंका ज्ञान होता, कभी न कहे हुएका ज्ञान हो जाता, कभी ध्रुव स्थिर पदार्थोंका ज्ञान होता, तो किसी ज्ञानमें एक ही पदार्थ ज्ञानमें आता, एक प्रकारके पदार्थ ज्ञानमें आते और जो पूरा नहीं निकला उसका एक अंश ही प्रकट है उससे पूरेको जान जाता है। जैसे कोई हाथी तालाबमें डूबा है, केवल सूँड़ निकली है तो उस सूँड़को ही देखकर पूरे हाथीको जान गए। इस प्रकार भी मतिज्ञान होता है कि कभी पूरी बात नहीं कह सकते, थोड़ा कह सकते, यों चेष्टाको देखकर उसका भाव जान लिया जाता है। कभी चंचल बिजली आदिक पदार्थोंका ज्ञान होता। यों १२ प्रकारसे मतिज्ञान पदार्थोंको जानता है और मानस ज्ञान जो मनसे उत्पन्न हुआ ज्ञान है वह भी ऐसे पदार्थोंको जानता है और श्रुतज्ञानके विषयको जानता है, इस तरह मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दोनों ज्ञान परोक्ष रूपसे इन अनेक पदार्थोंको जानता है। हम आपके मतिज्ञान और श्रुतज्ञान है, अवधिज्ञान, मनः पर्ययज्ञान, केवलज्ञान नहीं है, अथवा इस कालमें अवधिज्ञान तक हो सकता है, पर मनः पर्ययज्ञान और केवलज्ञान नहीं होते, लेकिन हम अपने मति और श्रुतज्ञानसे कल्याणका उपाय बना सकते हैं।

पंचिन्द्रियणाणाणं मज्झे एवां च होदि उवजुत्तं।

पणणाणे उवजुत्तो इन्द्रियणाणं ण जाणेदि ॥ २५९ ॥

पञ्च इन्द्रियज्ञानों व मानसज्ञानमें किसी एकका उपयोग होनेपर अन्यका अनुपयोग—यह लोकभावनाका प्रकरण है। लोकभावनामें उस ढंगसे पदार्थोंका वर्णन किया गया कि जिसमें इस जीवको भेदविज्ञान और सन्मार्गमें चलने की प्रेरणा मिले। इस प्रसंगमें ज्ञानकी वार्ता चल रही है कि जीवमें ज्ञान कितना होता है, किस ढंगसे होता है? तो यहाँ मतिज्ञानकी बात कह रहे हैं कि ५ इन्द्रिय और एक मन इन ६ कारणोंसे मतिज्ञानकी उत्पत्ति होती है। उनमें जब पञ्चेन्द्रियका ज्ञान हो रहा हो तो एक इन्द्रियके ज्ञानके समय एक ही इन्द्रियज्ञान उपयुक्त होता है, अर्थात् जब जिस इन्द्रियसे जान रहे हैं तब उस इन्द्रियसे जाननेका ही उपयोग है अन्य इन्द्रियज्ञानका उपयोग नहीं

है। इसी प्रकार जब मानस ज्ञानसे जाना जा रहा है तो उस समय मानसज्ञानका ही उपयोग है, इन्द्रियज्ञानका उपयोग नहीं है। उपयोगका अर्थ है वस्तुके ग्रहण करनेमें व्यापार करना, जिसको अन्य दार्शनिकोंने सीधा “व्यापार” शब्दसे ही प्रयोग किया है। तो जब इन ६ प्रकारके ज्ञानोंमें किसी भी प्रकारके ज्ञानका उपयोग है तब अन्यका उपयोग नहीं है और यह बात अनुभवसे भी समझमें आती है कि जब मानसज्ञान कभी आर्तरौद्रध्यानमें व्यापार कर रहा हो, किसी भी चिन्तनमें लग रहा हो उस समय इन्द्रियजज्ञानका उपयोग नहीं रहता और बड़े-बड़े योगीजनोंके जब कुछ विशिष्ट धर्मध्यानमें मानसज्ञान चल रहा है वहाँ भी इन्द्रियज्ञानका उपयोग न रहेगा। जैसे कोई पुरुष किसी रौद्रध्यानमें विशेष मनसे लग रहा है यह आर्तध्यानमें लग रहा है तो उस समय उसके इन्द्रियज्ञानका उपयोग नहीं होता, और कभी कोई बात गुजर जाये शरीरसे तो उसकी सुध नहीं रहती। इससे सिद्ध है कि इन ६ प्रकारके ज्ञानोंमें जिस किसी भी ज्ञानका उपयोग है उस समय वह एक उपयोग है।

इन्द्रियज्ञानोंके एक साथ हो जानेकी एक आशंका—यहाँ एक आशंका की जा सकती है कि कोई स्थिति ऐसी देखी जाती है कि जहाँ सभी ज्ञान एक साथ व्यापार कर रहे हैं और इसके लिए एक दृष्टान्त प्रसिद्ध है। दीर्घशष्कुलीभक्षण। एक बहुत बड़ी पपड़िया ज्ञायी जाती हो तो उस समय उसकी चुर-चुर आवाज आती है, वह सुनने में आ रही है, उसकी गंध भी चूँकि नाकके सामने है इसलिए स्पष्ट समझमें आती है और बड़ी पपड़िया है सो दिख भी रही है, उसके रस भी खानेसे मालूम हो रहा है, उसके स्पर्शका भी ज्ञान हो रहा है, कड़ी कड़ी लग रही है तो कैसे यह कहें कि ये सब ज्ञान एक साथ व्यापार नहीं करते? उसीके उत्तरमें कह रहे हैं कि

एक्के काले एक्कं णणं जीवस्स होदि उवजुत्तं।

णाणाणाणाणि पुणो लब्धिस्सावेण वुच्चतिं ॥ २६० ॥

एक कालमें लब्धिकी अपेक्षासे नाना ज्ञान होनेपर भी उपयोगकी अपेक्षासे एक ही ज्ञानकी संभवता—उपयोगकी अपेक्षासे तो ज्ञान एक ही कालमें एक ही उपयुक्त होता है, किन्तु लब्धिकी अपेक्षासे नाना ज्ञान एक साथ कहे आते हैं। जैसे ५० पानोंकी एक गड्डी हो और उसमें बड़ी तेजीसे एक सूई चुभो दी जाये तो देखनेमें ऐसा लगता है कि वे सभी पान एक साथ छिद गए मगर ऐसी बात नहीं है। उनके छिदनेमें समयभेद अवश्य रहा। कितनी ही द्रुतगतिसे सूई उन पानों को छेद दे, फिर भी वे पान एक साथ नहीं छिद सकते। वे क्रम-क्रमसे लगे हुए पान क्रम-क्रमसे ही छिदे। भले ही वहाँ समय भेद न मालूम पड़े फिर भी समयभेद रहता ही है। इसी प्रकार भले ही बहुत जल्दी-जल्दी लम्बी पपड़ीके खाते समय पाँचों इन्द्रियों द्वारा एक साथ ज्ञान हो रहा है, फिर भी समय भेद उनमें अवश्य है। उपयोगकी दृष्टिसे उन सबका क्रमसे ज्ञान हो रहा है। जब जहाँ उपयोग हो उस समय उसका ही ज्ञान है, पर इतनी शीघ्रतासे वह ज्ञान चल रहा है कि उनका समयभेद समझमें नहीं आता। इसीसे कुछ ऐसा विदित होता है कि सभी इन्द्रियों द्वारा एक साथ ज्ञान कर लिया।

उपयोगतः एक कालमें नाना ज्ञानोंकी असंभवताके परिचयसे आत्मशिक्षा—इस प्रकरणसे हमें हितके लिए क्या शिक्षा लेना है कि देखिये मैं ज्ञानस्वरूप हूँ और ज्ञानमें ऐसी सामर्थ्य है कि समस्त विश्वको एक साथ स्पष्ट जान लूँ। ज्ञानमें ज्ञानकी ओरसे रुकावट नहीं है कि वह यों क्रमसे जाने, थोड़ा जाने। यह तो कोई आवरणके निमित्तसे ही हो रहा है। तो मेरे स्वरूपका स्वभाव तो ऐसा है कि समस्त पदार्थोंको मैं एक साथ जान लूँ लेकिन आज स्थिति हमारी क्या हो रही है? कुछ थोड़ा-सा पुण्यका उदय है जिससे कुछ सुख सामग्रियाँ मिली हैं, उन्हींका अहंकार करके या उन्हींके प्रसंगमें थोड़ा सा कल्पित मौज मानकर अपना जीवन बिता देते हैं, पर यह

नहीं देखते कि हमारी आजकी कितनी दयनीय स्थिति है? हम किसी भी स्थितिका क्या अहंकार करें? अन्तरङ्ग स्थिति बतायी जा रही है कि इतना समर्थ ज्ञान भी आज इतना अशक्त हो रहा है कि वह क्रमसे पदार्थोंको जान पाता है और उसका उपयोग क्रमशः हो रहा है। तो यह मतिज्ञान उपयोगकी दृष्टिसे तो क्रमशः होता है, पर लब्धिकी अपेक्षासे ये नाना ज्ञान एक साथ है और मतिज्ञान विषयक ही नाना क्यों जितने भी श्रुतज्ञान, मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मनः पर्ययज्ञान जिसके जितने ज्ञान हैं वे सब-के-सब एक साथ हैं। लब्धिकी दृष्टिसे, पर उपयोगकी दृष्टिसे वे सब क्रमशः हुआ करते हैं।

ज्ञान दर्शन गुणका प्रतिसमय परिणामन होनेपर भी उपयोगतः एक कालमें एककी संभवता—यहाँ यह भी समझना चाहिए कि जब आत्मामें ज्ञानगुण और दर्शनगुण हैं तो क्या ऐसा हो सकता है कि जब ज्ञानगुणका उपयोग चल रहा है तो दर्शन गुणका कोई परिणामन न हो। जब दर्शनोपयोग चल रहा है तब ज्ञान गुणका कोई परिणामन न हो, क्या यह बात सम्भव है? जब गुण हैं तो प्रतिसमय उनके परिणामन हैं, जो भी गुण हैं वे स्थिति बिना नहीं रहते हैं, उनके कोई न कोई परिणामन हैं। तो परिणामन सतत् होते रहनेपर भी उपयोग क्रमशः होता है, यह यहाँ एक विलक्षणता है। प्रभुमें यह भेद नहीं पड़ा है, उनके ज्ञानका परिणामन सतत् है, उपयोग भी सतत् है। इसीलिए ज्ञानोपयोग दर्शनोपयोग प्रभुमें एक साथ बताये गए हैं और छद्मस्थ जीवोंके साथ नहीं कहे गए। तो ये नाना ज्ञान स्पर्शन आदिक इन्द्रियजन्य ज्ञान मानसज्ञान और अन्य ज्ञान भी लब्धिकी दृष्टिसे सब एक साथ हैं, पर उपयोगकी दृष्टिसे छद्मस्थ अवस्थामें एक साथ नहीं होते।

सहजज्ञानस्वरूपके बोध बिना विडम्बनाओंका वेध—अब देखिये जहाँ इन बाहरी स्वरूपोंमें चलते हैं तो विडम्बनायें नजर आती हैं और जब एक अपने अन्त-स्वरूपमें आते हैं तो वहाँ कोई विडम्बना नहीं है, क्या बर्त रहा है, क्या परिणति है, क्या स्थिति है कि अब वह केवल ज्ञान न रहा, अल्पज्ञान रहा। जिस भव्य पुरुषका अपने ज्ञानस्वरूपका अनुभव चल रहा है उसके उस अनुभवकालमें तो वह पूर्ण वैभवसम्पन्न है, उसको आकुलता कहाँ? उसको तरंग कहाँ? उस अनुभूतिसे तो केवल एक सहज आनन्दका ही अनुभव हो रहा है। तो हम इस ओर आयें। बाहरमें कहाँ क्या बीतता है इसकी उपेक्षा करके हम अपने ज्ञानस्वरूपका अनुभव किया करें। उसीमें हम अपने उपयोगको दिया करें। जिन बाह्य पदार्थोंको हम जानते रहते हैं उनके जानते रहनेका हम आपने अभी तक बड़ा परिश्रम किया, पर लाभ कुछ न मिला। खूब खुद भी बाह्यपदार्थोंकी जानकारी की, दूसरोंसे भी जानी, अनेक प्रकारकी पुस्तकों द्वारा भी बाह्यपदार्थोंकी जानकारी की, प्रयोगात्मक ढंगसे भी अनेक चीजोंकी जानकारी की, पर वहाँ लाभ कुछ न पाया। निजका जो सहज ज्ञान स्वरूप है, मनन करके उसका स्वरूप समझते हुए हम वहाँ प्रवेश करें अपना उपयोग वहाँ लगायें तो इसमें आत्महित है। और समझे कि हाँ हमने जीवनमें कुछ पाया है। तो ज्ञान परिणामन अनेक प्रकारके कहे गए पर हमें यह न भूलना चाहिए कि जिस ज्ञानगुणके ये सब परिणामन चलते हैं, जो सहज ज्ञानस्वरूप उस सहज ज्ञानस्वरूपके ज्ञान बिना इस जीवकी ऐसी विचित्र दशायें हुईं।

जं वत्थु अणेयंतं एयंतं तंपि होदि सविपेक्खं।

सुदणाणेण णयेहिंय णिखेक्खं दीसदे णेव ॥ २६१ ॥

वस्तुकी अनेकान्तरूपता व सापेक्षैकान्तरूपता—यहाँ अनेकान्तात्मक वस्तुका वर्णन चल रहा था और अनेकान्तात्मकाकी सिद्धि की। अब इस गाथामें यह कह रहे हैं कि जो वस्तु अनेकान्तस्वरूप है वही वस्तु सापेक्ष रूपसे एकान्तरूप भी है, और, श्रुतज्ञानके द्वारा, नयोंके द्वारा वह वस्तु निरपेक्ष नहीं है। प्रमाणसे भी वस्तुस्वरूपका

बोध होता है और सुनयसे भी वस्तुत्वका बोध होता है इतने पर भी जो नयोंका बोध होता है उसे प्रमेयका बोध नहीं कहा जा सकता, नेयका बोध कहेंगे? प्रमाणसे जो बोध होता है उसे प्रमेयका बोध कहेंगे। जो प्रमाणका विषय है उसे प्रमेय कहते हैं, जो नयका विषय है उसे नेय कहते हैं, किन्तु यहाँ यह समझना चाहिए कि सुनयसे तो वस्तुत्वका बोध होगा और दुर्नयसे नहीं। सुनय और प्रमाणमें अन्तर क्या है? सुनय भी अनेक धर्मोंको प्रकट करता है और प्रमाण भी अनेक धर्मोंको प्रकट करता है। केवल एक ही धर्मको यदि नय बताये तो वह दुर्नय हो जायेगा। सुनय भी अनेक धर्मोंको प्रकट करता है और प्रमाण भी अनेक धर्मोंको प्रकट करता है यह मानना होगा, अन्यथा उसे सुनय न कहेंगे, दुर्नय हो जायेगा, किन्तु वहाँ जो जाननेकी पद्धति है उस पद्धतिसे नय और प्रमाणका भेद आता है। जैसे नयमें बताया कि स्यात् नित्य जीव है। तो इस नयमें अथवा कहो इस ढंगमें जीवको नित्य स्पष्ट रूपसे कहा, लेकिन उसके साथ जो स्यात् शब्द जुड़ा है उस स्यात् शब्दने उस नित्यत्वके प्रतिपक्ष अनेक धर्मोंको संकेत कर दिया है इस कारणसे स्यात् नित्य जीव है, इस कथनमें एक ही धर्मको नहीं बताया, अनेक धर्मोंको बताया, पर नित्यको बताया प्रधानतासे और प्रतिपक्ष अनेक धर्मोंको बताया गौणतासे और इसी कारण ये सुनय कहलाते हैं, किन्तु प्रमाणसे जो भी जाने गए वे सब-के-सब धर्म प्रधानतासे जाने जाते हैं। वहाँ प्रधानता और गौणता नहीं होती। तो प्रमाणमें अनेक धर्मोंको समझा जाता है। स्पष्टतासे प्रधानतासे और नयमें एक धर्मका जो कि वक्तव्य हुआ है जिसे वचनोंसे कहा है उसे तो जानता है प्रधानतासे और उसके अतिरिक्त अन्य धर्मोंको गौणतासे सूचित करता है।

द्योतक और वाचक स्यात् शब्दमें अनेकान्तका प्रकाश—स्यात् शब्दको द्योतक भी कहा है और वाचक भी। स्यात् शब्द एक निपात संज्ञक शब्द है, जिसका अर्थ है कथंचित्। जिसे कहते हैं किंवृत्त-चिद्विधिः। जैसे बोला गया कि स्यात् नित्य है तो स्यात् शब्द जब वाचकरूप है, वह अर्थका कहने वाला है, उसका अर्थवाच्य अर्थ है। जब यह बात बतलाते हैं तो वे नित्यको प्रधानतासे और अनित्यको गौणतासे सबको बोल देते हैं। अतएव वाचक पक्षमें भी स्यात् शब्दने अनेकान्त धर्मको प्रकट किया। और, जिस समय द्योतक रूपमें स्यात् शब्दका प्रयोग होता है, द्योतकका अर्थ है कि जो कहे उसीका ही प्रकाश करना, जैसे कहा जीव नित्य ही है तो ही शब्द द्योतक माना गया। एव शब्दको द्योतक माना ही गया है, वहाँ अलगसे क्या बात कही गई? जो कहा है उसका अवधारण ही तो किया। तो द्योतक शब्द जब हम स्यात्को मानते हैं तो इसके कहे हुएको प्रधानतासे सूचित किया और न कहे हुएको इसने गौणतासे सूचित किया। यदि यह सब चमत्कार स्यात् शब्दका न हो तो उसका कहना निरर्थक होगा। फिर भङ्गोंमें स्यात् शब्दका प्रयोग ही क्यों किया जाता है? तो देखो, स्यात् इतनेसे शब्दने हम लोगोंके ज्ञानको सम्यग्ज्ञान बना दिया और स्यात्की मुद्रा न हो जिस बोधमें उसे बताया है कि वह कुज्ञान है। इसीलिए ऋषि-संतोंने बताया है कि स्यात् पदसे मुद्रित है यह समस्त शब्द ब्रह्म याने आगम। कहा हो तो, न कहा हो तो, जो सम्यग्ज्ञानके पारखी हैं वे स्यात् शब्दकी मुद्राको सब जगह नजरमें ले लेते हैं। तो इसीको कहते हैं सापेक्षएकान्त। अनेकान्त सर्वथा अनेकान्त नहीं है। वस्तु अनेकान्तरूप भी है और एकान्तरूप भी है, मगर इस एकान्तका अर्थ है सापेक्षएकान्त। सापेक्षएकान्तका समूह अनेकान्त बताया गया है। सो श्रुतज्ञानके द्वारा ये सब जाने जाते हैं, पर निरपेक्ष दर्शन इनका नहीं है।

ज्ञानीके ज्ञानमें स्यात्पद मुद्राकी अङ्कितता—हम जब कभी स्यात् शब्द नहीं भी बोलते हैं और अनेक बार बोलते भी हैं जैसे व्यवहारमें भी हम स्यात् शब्द कहाँ बोला करते हैं? और, बोलते जाते हैं बहुत-सी बातें। तो

सब बातोंके बोलते रहनेपर भी बोलने वालेके चित्तमें स्यात् शब्दका रहस्य पड़ा हुआ ही रहता है और इसीलिए बोलता जाता है जैसे पिताजी आ गए, पुत्र आ गया, गुरुजी आ गए, आदि बहुत-सी बातें कहते हैं, तो कहते हुए भी स्यात् शब्दका जो चमत्कार है वह उस ज्ञानीके चित्तमें सदा बसा हुआ है। वह जान रहा है, इन्हें सबका गुरु, पिता आदिक तो नहीं समझ रहा। स्यात् शब्दकी प्रतीति ज्ञानी पुरुषके सदा रहती है, इस कारण जितने भी ज्ञान हैं सबमें स्यात् पदकी मुद्रा हो तो वह सम्यक्ज्ञान है। स्यात्की मुद्रा नहीं है तो वह सम्यग्ज्ञान नहीं है। स्यात् शब्द बोले अथवा न बोले, सब कुछ बात भववचनसे बोलते हैं। द्रव्यवचन तो एक जैसे वृद्ध पुरुषका सहारा लाठी है इसी तरह ज्ञानी पुरुषका सहारा एक द्रव्य वचन है, पर जो कुछ निर्णय है वह सब भाववचनका है। जो आशयमें समझा उससे व्यवस्था है। तो यों जो वस्तु अनेकान्तरूप बतायी गई है वही वस्तु सापेक्ष एकान्तरूप रूप भी है। सापेक्षका अर्थ है अपने प्रतिपक्षकी आकांक्षा सहित रहना। जिसने प्रमाणसे वस्तुका परिज्ञान किया है वह पुरुष एक धर्मकी बात सुने या एक धर्मकी बात कहे। उसको तो नियमसे अन्य धर्मोंकी आकांक्षा साथमें रहती ही है, अन्यथा वह सम्यग्ज्ञान नहीं है। वह एकान्तवाद हो जायेगा, और एकान्तावाद जब सर्वथा रूपको पकड़ लेता है तब वही एक मिथ्यादर्शन कहलाने लगता है, और यदि सर्वथा शब्दको नहीं पकड़ता तो वह सब सुदर्शन हो जाता है।

दार्शनिकोंका हृदय—जितने भी दार्शनिक हुए हैं किसी भी दार्शनिकने बेईमानीसे दर्शनका निर्माण नहीं किया। सबका भाव उत्तम था, वस्तुस्वरूपके निर्णयका था, आत्महितका था। भीतरमें किसीने भी बेईमानी नहीं रखी, नैयायिक, वैशेषिक क्षणिकवादी आदिक जो जो भी दार्शनिक हैं उन्होंने अपने अपने दर्शनमें स्वरूपका वर्णन हितकी दृष्टिसे किया है। तो किसी भी दर्शनमें बेईमानी नहीं कही जा सकती। लेकिन, त्रुटि यह है कि जो वे कह रहे थे उसके प्रतिपक्षभूत धर्मकी उन्होंने आकांक्षा नहीं रखी। बस इतनी सी त्रुटिकी वजहसे जो कुछ कहा सब सही न रहा सका। जैसे अद्वैता एकान्त कहता है कि सर्व कुछ एक ज्ञान ब्रह्म ही है। ठीक है। जब आत्मतत्त्वका, वस्तुस्वरूपका हम सही तौरसे वर्णन करने लगते हैं तो जब अन्तः वैभव बताया जा रहा हो, ज्ञानमात्र तत्त्वकी जब व्याख्याकी जा रही हो, उस समयके उपयोगमें दार्शनिकको ऐसा जंच सकता है कि यही तो एक मात्र तत्त्व है। बाकी तो सब स्वप्नजाल है, मायाजाल है। उसने अपने दर्शनमें क्या बेईमानी की? लेकिन वे आगे पीछेकी सुध भूल गए। वे उस तत्त्वमें इतना आसक्त हुए कि आगे पीछेकी तो बात है, जिससे कि वस्तुका वस्तुत्व कायम रहे उस ओर उनका उपयोग न रहा। भला जो निष्पर्याय, जो किसी भी तरंगरहित ऐसा ज्ञान ब्रह्म हो उसमें अर्थक्रिया कैसे बनेगी? अर्थक्रियाका विरोध हो नहीं सकता, क्योंकि यह प्रतीतिसिद्ध बात है। किसीने यदि क्षणिक एकान्तकी बात रखी तो देखते हैं कि ज्ञान क्षण जितने चलते रहते हैं भिन्न भिन्न समयमें जो ज्ञान चला करते हैं वे ज्ञान अपने-अपने कालमें अपना-अपना अलग-अलग स्वरूप दिख रहे हैं। तब जो भी ज्ञान जाने, जिस पर्यायरूपसे परिणाम अपनी पर्यायमें वह अपना स्वरूप जुदा रख रहा है। नहीं तो सर्वज्ञानीकी संकरता हो जायेगी। फिर तो घटका ज्ञान क्या और पटका ज्ञान क्या? इन दोनोंमें भेद है। पटज्ञानका स्वरूप निराला है और घटज्ञानका स्वरूप निराला है। तो निरालापन देखा जाये उसीसे ही तो पार्थक्यकी व्यवस्था होती है। यह जुदा है यह जुदा। तो जहाँ देखा ऐसा निराला स्वरूप वहाँ उन्होंने वस्तु है। अब ऐसा उपयोग किया, पर्यायदृष्टिसे जाना और आत्महित भी उन्होंने समझा, और वासनार्ये संस्कार सब खतम हो जायेंगे, यदि ऐसे ज्ञानक्षणको वस्तु मानेंगे तो हम कल थे, आज हैं, पोजीशन, इज्जत ये सब झगड़े तो आत्माको माननेसे और नित्य माननेसे उठ रहे हैं, तो ये झगड़े ही मिटाओ ना? ज्ञानक्षण ही वस्तु है ऐसा माननेसे वासना न पनपेगी। तो आत्महितके कदममें उन्होंने भीतरसे कोई

बेइमानी नहीं की, लेकिन आगे पीछेकी सुध भूल गए। जो जगतमें सब अर्थक्रियायें नजर आती है ये कहाँसे सिद्ध होंगी? सर्वथा नित्यएकान्तमें अर्थक्रिया नहीं और सर्वथा अनित्यएकान्तमें अर्थक्रिया नहीं। तो त्रुटि कही जा सकती है, पर किसी दार्शनिककी बेईमानी नहीं कही जा सकती। उस त्रुटिको हटायें तब समझना चाहिए कि जो वस्तु अनेकान्तात्मक है वही वस्तु सापेक्ष एकान्त स्वरूप भी है।

प्रमाणसे जाने गये बहुधर्मसंयुक्त पदार्थमें सापेक्षसिद्धिके लिये नयका प्रयोग—लोकभावनामें वस्तुका स्वरूप बताते हुए यह प्रसंगमें चला आ रहा है कि जो वस्तु अनेकान्तात्मक है वही सापेक्ष एकान्तरूप भी है अर्थात् अनेकान्तमें भी सर्वथावाद न लगना। वस्तु, कथंचित् अनेकान्तरूप है और कथंचित् एकान्तरूप है, किन्तु उस एकान्तको सापेक्ष एकान्त कहना उसी सिलसिलेमें बतला रहे हैं कि पहिले प्रमाणसे द्रव्यको नाना स्वभावसे युक्त जानें, क्योंकि प्रमाणका विषय है बहुधर्मसंयुक्त पदार्थका जानना, फिर नानास्वभावसंयुक्त पदार्थको जानकर फिर सापेक्ष सिद्धिके लिए नयसे मिश्रित करना चाहिए। प्रमाणसे जान लिया और इसका नयन होगा, ले जाने वाला तो नय है। तो जो प्रमाणसे जाना है उसीकी सापेक्ष सिद्धि करनेके लिए नयका प्रयोग हुआ है। तभी नयका यह लक्षण बताया है कि प्रमाणसे ग्रहण किए गए पदार्थके अंशको बताना सो नय है तो अब अंश बताये जा रहे हैं।

पदार्थमें अस्तित्वस्वभावकी प्रतिष्ठाकी तरह नास्तित्वस्वभावकी भी प्रतिष्ठा—पदार्थमें क्या स्वभाव है? एक-एक धर्मकी बात कही जा रही है। पदार्थमें अस्तित्व स्वभाव है। स्वद्रव्यग्राहकनयकी अपेक्षासे “है” ही है। नयमें ‘भी’का प्रयोग एक फलित प्रवृत्ति है। सैद्धान्तिक है तो एवकारका प्रयोग है वस्तु स्यात् अस्ति एव। है भी, नहीं भी है। नित्य भी है, अनित्य भी है। यह फलित अर्थ है। प्राचीन पद्धतिमें एवकार लगाकर जहाँ स्याद्वादका विशेष स्पष्टीकरण किया गया है वहाँ एव शब्दकी व्याख्याकी गई है। अपि शब्दकी व्याख्या नहीं की गई। तो वस्तु स्वचतुष्टयसे है ही। अपेक्षा लगाकर वस्तुका एक अंश बताकर वहाँ निश्चय ही करना चाहिए, अवधारण ही करना चाहिए कि वस्तु है ही, अन्यथा याने अपेक्षा भी लगाये और ‘भी’का प्रयोग करे तो गलत हो जायेगा। जैसे द्रव्यदृष्टिसे जीव नित्य भी है यह गलत प्रयोग हो गया, द्रव्यदृष्टिसे जीव नित्य ही है, अनित्य नहीं है। जैसे कोई लोकव्यवहारमें कहे कि बेटाका नाम लेकर, उसकी अपेक्षा बताकर, इसका यह पिता भी है तो कितना गलत हो जायेगा? वहाँ तो लट्ठमारी हो जायेगी। जैसे मानो देवदत्त तो पिताका नाम है और यज्ञदत्त लड़केका नाम है तो वहाँ यह कहना कि यह यज्ञदत्तका पिता भी है तो यह बिल्कुल गलत प्रयोग है। वहाँ तो ‘ही’ का प्रयोग ठीक रहेगा। वह यज्ञदत्तका पिता ही है अन्य कुछ नहीं है। तो भङ्गोंमें स्यात् और एव ये दो जैसे घाटीपर चलने वाली रेलगाड़ीमें आगे-पीछे इंजन रहता है इसी प्रकार यह नय है घाटी, इस घाटीपर नयकी गाड़ी चलानेमें आगे-पीछे स्यात् और एव इंजन लगे हैं ताकि यह पटरीसे न उतरे। स्यात् अपेक्षासे कहता है तो एव उसका अवधारण कहता है। तो उन्हीं अंशोंको बता रहे हैं कि वस्तुमें अस्ति स्वभाव है स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षा, और परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावको ग्रहण करने वाले नयकी दृष्टिमें वस्तुमें नास्तित्व स्वभाव है। जिस तरहसे अस्तित्व स्वभावकी प्रतिष्ठा है पदार्थमें उसी प्रकारसे नास्तित्व स्वभावकी भी पदार्थमें प्रतिष्ठा है। इसमें अस्तित्वको मुख्य कहा जाये, नास्तित्वको गौण सो बात नहीं। जब अस्तित्व धर्मको कहा जा रहा है तब अस्तित्व मुख्य है, अस्तित्व गौण है। इस तरह स्याद्वादकी व्यवस्था बनेगी। इसमें यदि एकको वास्तविक और एकको अवास्तविक माना जाये तो वस्तुका स्वरूप नहीं आता। जैसे वस्तु अपने स्वरूपसे है यह तो मान लिया परमार्थ और वस्तु परस्वरूपसे नहीं है इसे मान लिया काल्पनिक तो काल्पनिक नास्तित्वसे वस्तुकी व्यवस्था भी

काल्पनिक ही बनेगी। तब स्वरूप भी है यह बात तो पायी गई आश्रयभूत और पररूपसे नहीं है यह बात हो गई काल्पनिक। तो इसमें विडम्बना क्या बनेगी कि वस्तु स्वरूपसे है यही एक बात है, पररूपसे नहीं है, यह बात नहीं है, तो इसका अर्थ हुआ कि पररूपसे वह हो गया। अब एक वस्तु स्वरूपसे भी हुआ, पररूपसे भी हुआ तो उसकी क्या मुद्रा बनेगी? उसका स्वरूप ही क्या बनेगा?

वस्तुके वस्तुत्वकी स्वपररूपोपादानापोहननिष्पाद्यता—यह आवश्यक है कि वस्तुस्वरूप है, पररूपसे नहीं है। जैसे स्वरूपतः अस्तित्व स्वभाव पारमार्थिक है, वस्तुमें इसी प्रकार परद्रव्योंसे हटे रहनेका स्वभाव भी वहाँ पारमार्थिक है। जिनते भी दार्शनिक है उन्होंने इस स्याद्वादसे ही किरण प्राप्तकी है। और वहाँ एकान्त हठ करनेके कारण ही एक थोड़ी भूल हो गई है, किन्तु कहा उन्होंने वस्तुगत धर्मको ही। जैसे विशेषवादमें कहते हैं कि द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, अभाव, ये ७ पदार्थ हैं। जो पदका अर्थ समझमें आये वही तो पदार्थ कहलाता है। सामान्य भी एक पद है, विशेष भी एक पद है, अभाव भी पद है, और इसके द्वारा जो समझमें आता है उनका परस्परमें व्यतिरेक भी है; अर्थात् सामान्यका स्वरूप विशेषमें नहीं, लो व्यतिरेक भी पाया गया, पदका वाच्य भी पाया गया, तो क्यों न भिन्न-भिन्न पदार्थ हुए? इस तरह वहाँ भिन्न-भिन्न पदार्थ ये माने गए। तो शब्दानुसार तो चले पर अर्थानुसार गति नहीं हुई। जब कि बात यह है कि पदार्थ जो सत् है वही पदार्थ भेददृष्टिसे गुणरूप है, भेददृष्टिमें सामान्य विशेषरूप है, किन्तु वे सब उस सद्भूत पदार्थसे अलग चीज नहीं हैं, प्रदेशका पार्थक्य नहीं है। स्वरूपका ही तो पार्थक्य है, पर द्रव्य, गुण, कर्म आदिकमें प्रदेशका पार्थक्य नहीं है। स्वरूपतः अतद्भाव है, बस इतने मात्रको भेदका पूरा कारण मान लेनेसे द्रव्य गुण आदिक पदार्थोंकी भिन्न व्यवस्था मान लिया गया है। चले तो वह एक जो बतया गया था मार्ग उसीको ही भेददृष्टिसे एक वस्तु अनेकरूप बतायी गयी है, तो चले तो उस मार्गसे ही, पर जैसे कि यहाँ भी अनेक मनुष्य काम करते हैं, एक-दूसरेसे मिलते-जुलते ही, लेकिन कोई होते हैं अकखड़ दिमागके और कोई नम्र दिमागके। तो एक उस बुद्धिसे जैसे मनुष्योंके कर्तव्यमें फर्क हो जाता है इसी प्रकार दार्शनिककी दृष्टिमें भी अन्तर आया। यहाँ बात यह चल रही है कि अपेक्षा छोड़ देनेसे कथन एकान्तरूप होता है और वह दुर्गन्ध होता है। वस्तु स्वतः है, उसमें जितना बल है उतना ही बल वस्तु पररूपसे नहीं है इसका पड़ा हुआ है। इन दोनोंमें किसे बलवान कहेँ और किसे दुर्बल कहेँ? अगर कोई बलवान है और कोई दुर्बल है तो बध्य घातक विरोध आयेगा, लेकिन एक पदार्थमें उनके धर्म रहते हैं और उनमें विरोध नहीं है।

एक वस्तुमें अनेक धर्मोंका अविरोध—विरोध हुआ करता है तीन प्रकारसे। सहानवस्था, परस्पर परिहार स्थिति और बध्यघातक तीनों ही प्रकारके विरोधसे वस्तुमें उन अनन्त धर्मोंके रहनेका विरोध है, यह बात नहीं है। सहानावस्था एक साथ न रह सके इसे कहते हैं सहानावस्था, लेकिन ये अस्तित्व, नास्तित्व, अनित्यत्व आदिक सभी धर्म एक साथ रह रहे हैं। सहानावस्था विरुद्ध नहीं है, यह बात प्रमाणसे सिद्ध है। परस्पर परिहारस्थिति यह कोई विरोध नहीं कहलाता बल्कि परस्पर परिहार होनेसे ही सत् बना करता है। जिसे माना है विरोध कि न रहना चाहिए एक साथ वह है यहाँ दूषण, अस्तित्व और नास्तित्वमें परस्पर परिहार है। जो अस्तित्वका स्वरूप है वह नास्तित्व नहीं और जो नास्तित्वका स्वरूप है वह अस्तित्वका नहीं। तो परस्परविहार बन गया ना। एक-दूसरेसे अलग रह रहा तभी तो दो तत्व कहलायें, नहीं तो एक कहलाता। अब जहाँ दो हैं, अनेक हैं, बहुत उनका एक जगह ठहरना बताया जायेगा। एकका एक जगह ठहरनेसे अनेककी बात तो न आएगी। अनेक वस्तु, अनेक धर्म, अनेक चीजें एक जगह ठहरें व कब ठहर पायेंगे? जब उनमें परस्पर परिहार हो गया। तो चले तो ये विरोध करने

वाले इस रीतिसे कि हम विरोध साबित कर दे कि परस्परपरिहार स्थितिका विरोध है, लेकिन सिद्ध यह होता है कि सबकी एक जगह स्थिति तब ही हो सकती है जब कि उनका परस्परमें परिहार हो। तीसरा विरोध बतया गया है बध्यघातक। बध्यघातक विरोध वहाँ चलता है जहाँ एक मरे और एक मारने वाला हो। यह विरोध वहाँ चलता है जहाँ एक बलवान हो एक निर्बल हो। जैसे शंकाकारने यह कहा कि जहाँ पदार्थमें अस्तित्व है वहाँ नास्तित्व नहीं रह सकता। इसमें विरोध है। लेकिन यह बध्यघातक विरोध यों नहीं है कि इसमें दोनों ही एक समान बलवान हैं। जैसे अस्तित्व स्वभाव बलवान है वैसे ही नास्तित्व स्वभाव भी बलवान है। जब दोनों एक समान बलवान हैं तो वहाँ एक मर जाये, एक रह जाये यह हो नहीं सकता। तो यों विरोधका अभाव होनेसे एक पदार्थमें अनेक धर्म रहते हैं। अस्तित्व स्वभाव है स्वरूप चतुष्टयका, नास्तित्व स्वभाव है पररूप चतुष्टयका। यदि यह माना जाये कि वस्तु पररूपसे नहीं है यह तो है वास्तविक बात, और स्वरूप है यह है काल्पनिक बात। तब सोचा जा सकता कि ऐसा भी कोई दार्शनिक होता जो पररूपसे नहीं है, इसको देते हो मुख्यता और वास्तविकता और स्वरूपसे है इसे कहते हो गौण अथवा उपचाररूप। हैं ऐसे दार्शनिक जो शब्दका अन्यापोह अर्थ मानते हैं। उनका यही तो सिद्धान्त है। जैसे कहे चौकी तो इस चौकी शब्दसे उनके इस चौकी पदार्थका ग्रहण नहीं होता, किन्तु दुनियामें जो चौकी नहीं, चटाई, भीत, किवाड़ आदि इन सबका अभाव है, यह कहा चौकी शब्दने, जिस चौकीको उठाकर रखा उसे नहीं कहा। उसे कहा अचौकी व्यावृत्ति। यह दर्शन कहाँसे आया? स्याद्वादियोंका जो द्वितीय भङ्ग है, उसका एकान्त किया? प्रमुखताकी तो अन्यापोह बन गया, लेकिन इन दोनोंमें एक बलवान हो, एक निर्बल हो यह बात हो तो वस्तुका स्वरूप नहीं बन सकता। जितना बलिष्ठ अहित शब्द है उतना ही बलिष्ठ नास्ति शब्द है। तभी बतया गया है कि वस्तुका वस्तुत्वस्वरूपके उपादान और पररूपके त्यागसे निष्पाद्य होता है।

वस्तुमें नित्यत्वस्वभाव व अनित्यत्वस्वभावका अविरोध—वस्तुमें अनेक धर्म हैं, इसका वर्णन चल रहा है। वस्तुमें नित्यस्वभाव है। जब उत्पादव्ययको गौण किया, सत्ताकी दृष्टिमें ग्रहण किया उस दृष्टिमें वस्तु नित्य है। किसी भी अंशको सिद्ध करते समय सापेक्षताकी बात नहीं भूलना चाहिए। मुखसे न कहे तो हृदयमें रख ले और किसी ढंगमें मुखसे भी बोले तब सुनयकी व्यवस्था बनती है। तो उत्पादव्ययध्रौव्यसे अनुस्यूत है पदार्थ, उनमेंसे उत्पादव्ययको गौण किया और सत्ताको प्रधानतासे देखा ऐसी दृष्टिमें पदार्थ कैसा है? यह पूछा जानेपर उत्तर होगा कि नित्य स्वभाव है, और सत्ताको तो गौण किया, उत्पादव्ययको मुख्य किया, ऐसी दृष्टिमें पूछा जाये कि पदार्थ कैसा है? तो उत्तर होगा कि अनित्य है, अनित्य स्वभाव है। एक ही पदार्थमें नित्यत्व रहना, अनित्यत्व रहना वह अविरोधपूर्वक रहता है। जैसे दार्शनिकोंने यह कहकर कि एकमें अनेक धर्म असम्भव हैं, अनेकान्त, निराकरण किया है, उन्होंने अनेकान्तके स्वरूपको यथार्थतया समझा नहीं है। स्यात् और एव ये दो अगल-बगलके जो इन्जिन हैं इस धर्मकी गाड़ी चलानेके लिए, ये इतने पुष्ट हैं कि इनमें सर्वशंकाओंका निराकरण हो जाता है। कोई कहता है कि स्याद्वाद संशयवाद है? अरे जब एव शब्द लग गया तो संशयवाद कहाँ रहा? कोई कहता है कि हठवाद हो गया, एकान्तवाद हो गया? अरे हठवाद कहाँ रहा जब स्यात् शब्द साथमें लगा हुआ है कि इस दृष्टिसे ऐसा ही है। तो पदार्थमें यों अनेक धर्म एक साथ अविरोध रूपसे पाये जाते हैं।

एक वस्तुमें एक स्वभाव व अनेक स्वभावका अविरोध—पदार्थ एक स्वभावी है या अनेकस्वभावी? इस आधारपर भी अनेक दर्शनोंकी उत्पत्ति हुई है। भेदकल्पना निरपेक्ष दृष्टिसे पदार्थ एक स्वभावरूप है। जो जाना सो पदार्थ। आत्मामें ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है, ये सब भेदकल्पना निरपेक्ष दृष्टिमें हैं। पदार्थको जिसे जाना, जो

प्रमाणसे प्रमेय हुआ वह पदार्थ इन भेदों वाला नहीं है, वह तो अवक्तव्य कह दिया जाये। वह ज्ञानमें आया है इसी कारणसे क्षणिकवादियोंने स्वलक्षणको शब्द द्वारा अभिधेय नहीं माना। स्वलक्षण वस्तुका खुद है जो कि निराकार दर्शनसे ही जाना जाता है, सविकल्पज्ञानसे नहीं। ऐसे वस्तुका स्वलक्षण द्वारा कहा नहीं जा सकता। शब्द किसे कहते हैं? शब्द कहते हैं अवस्तु को। शब्द द्वारा वस्तु नहीं कहा जाता। वस्तु तो प्रमेय है, ज्ञानमें आ जायेगा, मगर शब्दों द्वारा अभिधेय जो होगा वह असद्व्यावृत्ति होगा, वह वस्तु न होगा फिर भी वह असत् नहीं है। सत् होना और बात है, वस्तु होना और बात है इस सिद्धान्तमें। वस्तु वह कहलाता है जहाँ स्वलक्षण हो, विशेष हो, असाधारण धर्म हो। और, सत् वह कहलाता है कि जो किसी प्रकार कल्पनामें आ सके। सत् व्यापक है और स्वलक्षण व्याप्य है। तो जब इन दृष्टियोंके मार्गसे चलते हैं और फिर सापेक्षता छोड़ देते हैं तो ऐसे ही एकान्तवादकी उत्पत्ति होती है। अब यहाँ एक स्वभाव है भेदकल्पना निरपेक्ष दृष्टिमें। जो है सो है, आत्मा जो है सो है, पर व्यवहारनय द्वारा उसका शक्तिभेद करके समझा जाता है। जिसको कि जिसके ज्ञान हो, दर्शन हो वह आत्मा है। अब यहीं निरख लो कि अपेक्षा दृष्टिमें कि काल्पनिक बात क्या हुई। भेदकल्पना हुआ या अभेद वस्तु काल्पनिक हुआ? तो दृष्टि उत्तर दे देगी। कल्पना तो भेदमें हुई, अभेदमें कल्पना नहीं। वह परमार्थ है। इस ही परमार्थका एकान्त करके स्वलक्षण तत्व माना है। तो वस्तु एक स्वभाव है। जहाँ भेदकल्पना नहीं है और अनेक स्वभाव हैं। यद्यपि अन्वय द्रव्यार्थिक नयसे वस्तु एक स्वभाव रूप है फिर भी भेदकल्पनासे वहाँ देखते हैं तो शक्तिभेद, परिणति भेद ये सब दृष्टिगोचर होते हैं। वहाँ भी अनेक स्वभाव हैं।

वस्तुमें शक्तिपरिचयकी समीचीन पद्धति देखिये यद्यपि कल्पनाकी है गुणकी, लेकिन यह इतना फिट है कि जिसे कल्पना शब्दसे प्रयुक्त नहीं किया गया है। द्रव्यमें गुण हैं अनन्त। तो जो बताया गया उस रूपसे ही तो द्रव्य परखा गया। इसलिए काल्पनिक शब्दसे नहीं कहा, फिर भी भेदकल्पनाकी दृष्टि कहती है कि वहाँ कल्पनासे गुण समझा गया है। वस्तु तो स्वयं स्वतःसिद्ध जो है वह एक स्वभाव ही है। और चूँकि वह परिणति भी सदाकाल है ना इसलिए प्रतिसमयमें एक परिणमन है। जहाँ गुणभेद माना गया है वहाँ एक समयमें अनन्त पर्यायें मानी गई हैं। जहाँ अभेद समझा गया है वहाँ एक स्वभाव और एक परिणमन समझा गया है। तो यों पदार्थ भेदकल्पना निरपेक्षदृष्टिसे एक स्वभाव है और भेद कल्पना सापेक्षदृष्टिसे अनेक स्वभाव है। इस तरह वस्तु भेदस्वभावरूप है और अभेदस्वभावरूप है। गुण गुणीका भेद करना यह है सदभूत व्यवहारसे और जहाँ भेदकल्पना न रखी गई उस दृष्टिसे है गुण गुणीका परस्परमें अभेद। यों वस्तु जो है वह है, वही है, पर उसमें नयोंके प्रयोगसे उन अनन्त धर्मोंकी सापेक्षता बतायी गई है। जो सारे अनन्त धर्म प्रमाणमें बिना विश्लेषणके एक साथ ज्ञानमें आये। विश्लेषण करना नयका काम है। जहाँ विश्लेषण होगा वहाँ नियमसे किसीकी प्रधानता, किसीकी गौणता आ ही पड़ेगी। तब प्रमाणसे जो पदार्थ जाना है, जैसे अनन्तधर्मात्मक जाना है बिना गिनती किये, बिना विश्लेषण किए, बिना भेद डाले हुए, उस ही पदार्थके उन अनन्त अंशोंका भेद करके प्रधानता गौणताकी सिद्धि करके जो समझा गया है यह है नयका काम। इस तरह वस्तु अनेकान्तरूप भी है और सापेक्ष एकान्तरूप भी है, यह बात यहाँ इस गाथामें बतायी गई है।

